HINDUSTANI 1939 G.K.V.

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

[लेखक—श्रीरामचंद्र टंडन, एम्०ए०, एल्-एल्० बी०]

(१)

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

जनवरी, १९३९

हिंदुस्तानी एकेडेमी
संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

२—प्रोफ़ेसर अमरनाथ झा, एम्० ए०
३—डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)
४—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, डी० एस्-सी० (लंदन)
५—डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)
६—श्रीयुत रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

लेख-सूची

वार्षिक मूल्य ४)—डाकव्यय-सहित

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

[लेखक--श्रीरामचंद्र टंडन, एम्०ए०, एल्-एल्० बी०]

(१)

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की मृत्यु[1] द्वारा हिंदी साहित्य ने अपना एक महारथी खो दिया। भारतेंदु हरिश्चंद्र के बाद कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं उत्पन्न हुआ था जिस ने हिंदी जगत पर, विविध दिशाओं में इतना प्रभाव डाला हो। यह सच है कि आचार्य द्विवेदी में रचनात्मक प्रतिभा उच्च कोटि की नहीं थी। फिर भी उन में एक सुदृढ़ व्यावहारिक बुद्धि थी, और था हिंदी के लिए उत्कट प्रेम, और इन गुणों ने मिल कर उन के व्यक्तित्व को बड़ा बल दिया था। यहां तक कि लगभग बीस वर्षों तक, जिस बीच उन का 'सरस्वती' पत्रिका से सक्रिय संबंध रहा, हिंदी संसार उन का लोहा मानता रहा, और यह काल उचित रूप से ही, हिंदी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी युग' कहलाया। इस बात से विशेष सांत्वना नहीं मिल सकती कि वह परिपक्व अवस्था में दिवंगत हुए, अथवा वह अवकाश ग्रहण करके बहुत दिनों से अपने गाँव में रहते हुए समय-यापन कर रहे थे। क्योंकि अपने अंतिम समय तक वह हिंदी साहित्य की उन्नति में दिलचस्पी लेते रहे, और साहित्य-सृजन की जो नींव उन्हों ने डाली थी, उस पर एक विशाल भवन का निर्माण होते देख कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। आचार्य द्विवदी वास्तव में आधुनिक हिंदी के निर्माताओं में एक गौरव का स्थान रखते थे। आज का शायद ही कोई वयस्क हिंदी लेखक हो, जिस ने किसी न किसी समय आचार्य द्विवेदी से प्रभाव न ग्रहण किया हो। आचार्य एक धुन के पक्के साहित्य-सेवी थे, और उन का भाषा तथा साहित्य-प्रेम गहरा ही नहीं वरन् विवेक-पूर्ण था।

---

[1] २१ दिसम्बर, १९३८

२

(२)

द्विवेदी जी का जन्म रायबरेली (अवध) के दौलतपुर नाम के गंगा-तटस्थ गाँव में, सन् १८६४ में हुआ था। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि उन के जन्म के आध घंटे के भीतर, किसी ज्योतिषी ने, जो वहां पर उपस्थित था, इन की जिह्वा पर सरस्वती का बीजमंत्र अंकित किया। यह संस्कार एक प्रकार से लाक्षणिक सिद्ध हुआ, क्योंकि यह कहा जा सकता है कि सरस्वती ने उन पर विशेष रूप से कृपा की।

अपने गाँव के खेतों और ग्राम के बाग़ों से आचार्य द्विवेदी को बड़ा ममत्व था। इसी वातावरण में वालक महावीरप्रसाद खेल-कूद कर बड़े हुए और अपने गाँव के मदरसे में ही उर्दू-फ़ारसी से उन्हों ने विद्यारंभ किया। घर पर पुरानी परिपाटी से 'शीघ्रबोध' से आरंभ कर के थोड़ा-सा संस्कृत का अभ्यास किया। अपने प्रारंभिक जीवन के संबंध में आचार्य द्विवेदी ने बड़ी सरलता से यह लिखा था––

"मैं एक ऐसे देहाती का आत्मज हूं, जिस का मासिक वेतन १०) था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी संस्कृत पढ़ कर १३ वर्ष की उम्र में मैं ३६ मील दूर, रायबरेली के ज़िला स्कूल में अंग्रेज़ी पढ़ने गया। आटा-दाल घर से पीठ पर लाद कर ले जाता था। दो आने महीना फ़ीस देता। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाएं पका कर पेटपूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। . . . एक वर्ष किसी तरह वहां कटा। फिर पुरवा, फ़तेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे। कौटुंबिक दुरवस्था के कारण मैं उस से आगे नहीं पढ़ सका। मेरी स्कूली शिक्षा यहीं ख़त्म हो गई।"

उन दिनों किसी देहाती बालक के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा रखना एक साहस की बात थी, और जिस परिश्रम से, कठिनाइयों का सामना करते हुए, द्विवेदी जी ने इस के लिए प्रयत्न किया, वह उन के दृढ़ व्यक्तित्व पर प्रकाश डालता है। जिस समय उन की स्कूली शिक्षा का यह क्रम टूटा, द्विवेदी जी की अवस्था केवल १७ वर्ष की थी। सच बात तो यह है कि द्विवेदी जी ने जो ज्ञानोपार्जन किया, निजी अध्यवसाय से। वह शिक्षा जो उन्हों ने अपने आप को दी, स्कूली शिक्षा की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् थी।

(३)

एक साल अजमेर में १५) पर नौकरी करके पंडित महावीरप्रसाद पिता के पास

बंबई पहुँचे, और तार का काम सीख कर जी० आई० पी० रेलवे में २०) महीने पर तार-बाबू बने। तार-बाबू हो कर भी उन्हों ने टिकट-बाबू, माल-बाबू, स्टेशन-मास्टर, यहां तक कि रेल की पटरियां बिछाने और उस की सड़क की निगरानी करने वाले तक का काम सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ, उन की तरक़्क़ी होती गई। अवकाश के समय का भी उन्हों ने अच्छा उपयोग किया। बंबई में रहते हुए उन्हों ने मराठी और गुजराती भाषा का अच्छा ज्ञान कर लिया। अपनी अंग्रेज़ी की योग्यता भी बढ़ाई। उन्हें अपने काम के सिल-सिले में हरदा, खँडवा, होशंगाबाद और इटारसी भी रहना पड़ा। अपने काम से इन्हों ने अफ़सरों को प्रसन्न किया। इंडियन मिडलैंड रेलवे (जो अब नहीं रही है) के ट्रैफ़िक मैने-जर कोई मिस्टर डब्ल्यू० बी० राइट थे। वह द्विवेदी जी से इतने ख़ुश हुए कि उन्हें तार का इन्सपेक्टर बना दिया, और झाँसी में उन की नियुक्ति कर दी। इस पद पर भी द्विवेदी जी ने योग्यता दिखाई। उन्हों ने तार के लिए एक नए 'लाइन क्लिअर' की ईजाद की, और अंग्रेज़ी में तार-विद्या सीखने वालों के लिए एक गाइड-बुक भी तैयार की। झाँसी में रहते हुए उन्हों ने अपने अवकाश का और भी उपयोग किया। यहां कुछ बंगाली बाबू रहा करते थे, जो उन्हीं के दफ़्तर में काम करते थे। उन की सहायता से द्विवेदी जी ने बँगला का भी अच्छा अभ्यास कर लिया। इस प्रकार से भारतीय भाषाओं का उन का ज्ञान बढ़ता ही रहा। कुछ लिखने का भी शौक़ हो गया था। सरस्वती की सेवा में जैसा इन का मन लगता था, और धंधों में नहीं, और यद्यपि नौकरी में इन की तरक़्क़ी होती गई, और आगे के लिए भी उम्मीद थी, वह नौकरी से ऊब से रहे थे। इसी बीच उन्हें एक बहाना भी मिल गया। कहा जाता है कि किसी ट्रैफ़िक सुपरिंटेंडेंट ने इन के साथ रुखाई का व्यवहार किया। उन्हों ने नौकरी से तुरंत इस्तीफ़ा दे दिया और अपनी बीस साल की नौकरी छोड़ दी। उन्हों ने अपने इस कार्य पर कभी खेद न प्रकट किया। उन के इस कार्य ने, उन के जीवन को तो एक नई प्रवृत्ति दी ही, हिंदी-जगत का जो इस से उपकार हुआ, वह बहुत बड़ा है, और ऐसा है जो कभी भुलाया नहीं जा सकता।

(४)

सन् १९०३ में, ४० वर्ष की अवस्था में, जब आचार्य द्विवेदी हिंदी साहित्य की सेवा की ओर प्रवृत्त हुए तब वह कोई नौसिखिए न थे। इस क्षेत्र में अन्य काम करने वालों की

अपेक्षा उन की कल्पना विस्तृत थी। मराठी, गुजराती और बँगला भाषाओं की जानकारी उन के कार्य में बड़ी सहायक हुई। इन भाषाओं के साहित्य की प्रगति से परिचित होते हुए, उन्हें इस बात की उत्कट इच्छा हुई कि हिंदी इन में से किसी से भी पीछे न रहे, बल्कि सब से आगे उन्नति के क्षेत्र में निकल जाय। वह स्वप्न मात्र ही नहीं देख रहे थे। पहले से ही वह तत्कालीन प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने लगे थे, विशेष कर 'हिंदोस्तान', 'भारत-मित्र', 'हिंदी बंगवासी', 'रसिकबाटिका', और 'सरस्वती' में। इन्हों ने संस्कृत रचनाएं भी की थीं, जो 'संस्कृत-चंद्रिका' में निकली थीं।

'सरस्वती' को इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने सन् १९०० में निकाला था। उस समय यह नागरी-प्रचारिणी सभा के निरीक्षण में, और सभा के ही कतिपय सदस्यों के संपादकत्व में प्रकाशित होती थी। बाबू चिंतामणि घोष की परख और दूरदर्शिता ने ही उन्हें पत्रिका का भार पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी को सौंपने के लिए प्रेरित किया। जिस समय द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का संपादकत्व स्वीकार किया उस की ग्राहक-संख्या गिर रही थी। इसे उन्हों ने सँभाला। 'सरस्वती' के नए संपादक और संचालक का आपस में कैसे परिचय हुआ, इस की कहानी रोचक है। कुछ वर्ष पहले बाबू चिंतामणि घोष ने हिंदी की कुछ रीडरें प्रकाशित की थीं। वह द्विवेदी जी के हाथों में पड़ीं तो द्विवेदी जी ने तीखी और कड़ी समालोचना कर के उन की खूब खबर ली। इस समालोचना से चिंतामणि बाबू प्रतिहत न हुए। वरन् उन्हों ने द्विवेदी जी को यथार्थ रूप में पहचाना। द्विवेदी जी से उन्हों ने नई रीडरें तैयार कराईं, और अब जब अवसर आया तो 'सरस्वती' का संपादन-भार उन्हें सौंप दिया। संचालक महोदय ने द्विवेदी जी पर पूरा भरोसा किया, और द्विवेदी जी ने उन के इस विश्वास को पूरी तरह से निबाहा।

(५)

वह बीस वर्ष, जिन में आचार्य द्विवेदी का 'सरस्वती' से संपादक के रूप में संबंध रहा आधुनिक हिंदी-साहित्य के इतिहास में स्मरणीय रहेंगे। यह पत्रिका अन्य सामयिक पत्रिकाओं के लिए आदर्श-रूप रही। अनेक हिंदी लेखकों की यह चरम लालसा रहती थी कि उन के लेख इस पत्रिका के पृष्ठों में स्थान पा सकें। यह प्रतिष्ठा 'सरस्वती' को सहज में न प्राप्त हुई थी। इस के लिए उस के संपादक को बहुत प्रयत्नशील होना पड़ा था। आचार्य

द्विवेदी 'सरस्वती' को न केवल हिंदी की सब से प्रतिष्ठित पत्रिका बनाना चाहते थे, वरन् अन्य भारतीय भाषाओं की सम्मानित पत्रिकाओं में उसे उचित स्थान दिलाना चाहते थे। अन्य भारतीय भाषाओं, तथा संस्कृत, फ़ारसी, और अंग्रेज़ी की जानकारी के कारण वह विषयों का सुंदर चयन कर पाते थे। चुने हुए विषयों पर वह ख़ास तौर से लेख लिखवाते, और जहां तक भाषा का प्रश्न था, वह यह चाहते थे कि हिंदी गद्य ऐसा रूप धारण करे कि वह आधुनिक विचारों को जनता तक सुगमता से पहुँचा सके।

यह कहना अनुचित न होगा कि हिंदी-भाषी जनता को अच्छी कोटि की साधारण शिक्षा दे सकने के उद्देश्य को 'सरस्वती' ने अपनाया, और काल और परिस्थितियों को देखते हुए यह कहा जायगा कि इस प्रकार की शिक्षा प्रस्तुत करने में जैसा यह पत्रिका समर्थ हुई वैसे अन्य कोई साधन न हुए। संपादक के रूप में आचार्य द्विवेदी ने कुछ मंतव्य निर्धारित कर लिए थे, और इन से वह टलते न थे। उन की सफलता का रहस्य इस बात में निहित है कि न केवल उन्हें इस बात का ज्ञान था कि उन के पाठक क्या चाहते हैं; वरन् वह यह भी जानते थे कि पाठकों के लिए क्या वस्तुतः श्रेयस्कर होगा। प्रत्येक विषय पर--पक्ष में हो अथवा विपक्ष में--वह तीव्र और दृढ़ सम्मति रखते थे। फिर भी वह निष्पक्ष थे। उन की निष्पक्षता इस बात में थी कि उन्हें कोई निजी इष्ट साधन करना न होता। उन के संपादन-काल में कितने ही साहित्यिक विवाद उठे। इन में उन्हों ने उत्साह से भाग लिया। जिस पक्ष पर उन की आस्था रही, उस के दृढ़ समर्थन से वह कभी विचलित न हुए, और ऐसा शायद ही हुआ हो कि उन्हें नीचा देखना पड़ा हो। वह बनावटीपन के कट्टर दुश्मन थे। स्वयं स्पष्टवादी थे, और स्पष्टवादिता के गुण का औरों में आदर करते थे। वह कड़ा आघात कर सकते थे, परंतु इस का विचार बराबर रखते थे कि न्याय की सीमाओं का उल्लंघन न हो।

आचार्य द्विवेदी की सेवाओं में, एक मूल्यवान् सेवा यह रही है कि उन्हों ने लेखकों का एक दल उत्पन्न किया; कितनों को लिखना सिखाया या लिखने के प्रति प्रोत्साहित किया। उन्हों ने यह अनुभव किया कि हिंदी में नवीन विचार उन्हीं लोगों के उद्योग से आ सकते हैं, जिन्हों ने उच्च शिक्षा प्राप्त की हो। इस शिक्षा का माध्यम अब भी अधिकांश अंग्रेज़ी है, और उस समय तो विशेष रूप से वही था। आचार्य द्विवेदी ने यह भी देखा कि उच्च शिक्षा प्राप्त हिंदुस्तानियों का, हिंदी के प्रति अधिकांश अन्यमनस्कता और उपेक्षा

का भाव है। आग्रह और आलोचना, दोनों ही ढंग से उन्हों ने अधिकाधिक पढ़े-लिखों की रुचि हिंदी की ओर फेरने का प्रयत्न किया। उन के लेखों को बहुत कुछ सुधार कर वह उन्हें व्यक्तिगत रूप से उत्साहित करते; उन्हें बराबर परामर्श भी देते, और उन से पत्र-व्यवहार द्वारा संपर्क बनाए रहते। जिस समय आचार्य ने अपनी संपादकीय लेखनी अलग रक्खी, उस समय वह उचित रूप से इस बात का गर्व कर सकते थे कि उन्हों ने अपने श्रम, और अध्यवसाय से अपनी भाषा को उन्नत और संपत्तिशाली बना कर और भी उन्नति के पथ पर अग्रसर किया है। इस का श्रेय उन्हें थोड़ा नहीं मिलना चाहिए।

(६)

आचार्य द्विवेदी ने अपने संपादकीय कर्तव्य का इस तत्परता और लगन से निर्वाह किया कि वस्तुतः उन्हें रचनात्मक साहित्यिक कार्य के लिए अवकाश न मिला। फिर भी गद्य और पद्य, दोनों में ही, उन्हों ने जो पुस्तकें प्रकाशित कीं, यह देखते हुए कि वह आधुनिक हिंदी भाषा तथा साहित्य के निर्माण-काल की वस्तु हैं, एक ऊँचे कक्ष की हैं। सब से पहले उन्हों ने कदाचित् पद्य-रचनाएं ही प्रकाशित कीं। उन की प्रारंभिक कविताएं पुरानी परंपरा और शैली के अनुसार ब्रजभाषा में हैं। कुछ संस्कृत में भी हैं। परंतु शीघ्र ही उन्हों ने इस बात का अनुभव कर लिया कि गद्य और पद्य की भाषाएं अलग-अलग रास्तों पर नहीं चल सकतीं; और अगर हिंदी को दौड़ में पिछड़ना नहीं है, तो उसे पद्य की भाषा को ब्रजभाषा से बदल कर खड़ी बोली करना होगा। एक बार यह विश्वास उन के मन में दृढ़ हो गया, फिर तो आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी पूरी सामर्थ्य से खड़ी बोली की कविता का समर्थन किया। 'सरस्वती' में खड़ी बोली की कविताओं को ही अधिकतर स्थान मिलता। ब्रजभाषा या अन्य हिंदी की बोलियों को भूले-भटके ही स्थान मिला हो। 'सरस्वती' की इस नीति का उस काल घोर विरोध भी हुआ था। 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली' का विवाद वर्षों तक चला है। अंत में द्विवेदी जी के ही पक्ष ने बल पकड़ा, क्योंकि वही स्वाभाविक था। आज भी इने-गिने ब्रजभाषा के समर्थक मिलेंगे। लेकिन खड़ी बोली की प्रधानता को अब किसी तरह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उस की पूर्ण-रूप से विजय हुई।

आचार्य द्विवेदी की कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'काव्य-मंजूषा' और 'सुमन'। उन की कुछ कविताएं अन्य कवियों की रचनाओं के साथ 'कविता-कलाप' में भी

संग्रहीत हुई हैं। हमें यह न भुलाना चाहिए कि यह कविताएं वास्तव में प्रयोगात्मक हैं। खड़ी बोली की भाषा सुथरी नहीं हो पाई है। बीच-बीच में ब्रजभाषा का रूप रखने वाले शब्द आ गए हैं। न भाषा इतनी प्रांजल और समर्थ हो पाई है कि कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान प्रकट कर सके। फिर भी यह प्रारंभिक प्रयास इतने सफल अवश्य रहे कि औरों के लिए, जिन के पास कविता के अभ्यास के लिए अधिक समय था, मार्ग-प्रदर्शन कर सकें। और फल यह हुआ कि अनेक हिंदी कवि खड़ी बोली का माध्यम अपने विचारों और कल्पनाओं को प्रकट करने के लिए ग्रहण करने लगे। 'कुमारसंभवसार' में आचार्य द्विवेदी ने कालिदास के इसी नाम के महाकाव्य के पाँच सर्गों का संक्षेप प्रस्तुत किया है। इस में उन की खड़ी बोली में विशेष प्रवाह है। कविता के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी के प्रयास का मूल्य इस बात में है कि उन्हों ने खड़ी बोली कविता को प्रचार दिया और साथ ही उस का नैतिक समर्थन किया। हम लोग उन कवियों के नामों से ख़ूब परिचित हैं जिन्हों ने खड़ी बोली कविता के विकास में साहाय्य दिया। यह कहना अनुचित न होगा कि इन में से अधिकांश ऐसे हैं जिन्हों ने सब से पहले अपनी प्रेरणा आचार्य द्विवेदी द्वारा ही प्राप्त की थी।

(७)

आचार्य द्विवेदी ने गद्य में जो ग्रंथ प्रकाशित किए उन में से अधिकांश या तो अनुवाद हैं, या अन्य भाषाओं की पुस्तकों का आश्रय ग्रहण कर के लिखे गए हैं। मिल की 'लिबर्टी', स्पेंसर के 'एडूकेशन' तथा बेकन के निबंधों के सफल अनुवाद उन्हों ने 'स्वाधीनता', 'शिक्षा' और 'बेकन-विचार-रत्नावली' शीर्षक निकाले। इन से पता चला कि आचार्य अंग्रेज़ी साहित्य के प्रसिद्ध ग्रंथों के अनुवाद की क्षमता रखते थे। उन का "संपत्ति-शास्त्र" जो आधुनिक अर्थ-शास्त्र का विषय ले कर एक अंग्रेज़ी ग्रंथ के आधार पर लिखी हुई रचना है, अपने विषय पर हिंदी में पहली पुस्तक है। उन का लिखा हुआ 'महाभारत' एक बँगला ग्रंथ के आधार पर प्रस्तुत हुआ है और इस का प्रचार अच्छा हुआ है। उन की अन्य पुस्तकों में कालिदास के 'रघुवंश' का गद्यानुवाद, 'चरित्रचित्रण', 'भामिनी-विलास' का भाषानुवाद, 'नैषधचरितचर्चा', 'हिंदी कालिदास', 'नाट्यशास्त्र', 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा', 'कालिदास की निरंकुशता', 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति', 'जल-चिकित्सा' आदि हैं।' 'जल-चिकित्सा' में आचार्य के अपने प्रयोगों और अनुभवों का वर्णन

है। इन के अतिरिक्त ऐसे और कई संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं जिन में कि आचार्य के 'सरस्वती' में समय-समय पर छपे हुए लेख और टिप्पणियां एकत्र की गई हैं। 'विचार-विमर्श', 'संकलन', 'प्राचीन पंडित और कवि', 'अद्भुत आलाप', 'साहित्य-संदर्भ', 'अध्यात्मिकी', 'प्राचीन चिह्न', 'समालोचना-समुच्चय', 'साहित्य-सीकर' का इन में विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। जहां तक इन पंक्तियों के लेखक की जानकारी है, आचार्य द्विवेदी के बहुत से निबंध, जो विभिन्न वाद-विवादों के संबंध में लिखे गए थे, पुस्तक-रूप में नहीं आ सके हैं। वास्तव में द्विवेदी जी की शैली का चमत्कार इन्हीं में दिखाई पड़ता है, और उन की शैली के यह सब से अच्छे नमूनों के रूप में पेश किए जा सकते हैं। इन की मौलिकता निरापद है, इन में तर्कों और युक्तियों के विस्तार के साथ हम द्विवेदी जी के व्यंग्यों का भी आस्वादन पावेंगे। आचार्य द्विवेदी की संपूर्ण कृतियों के एक संगृहीत संस्करण की बड़ी आवश्यकता है।

आचार्य द्विवेदी की दिलचस्पी अनेक विषयों में थी, जैसा कि 'सरस्वती' से उद्धृत लेखों के शीर्षकों से ज्ञात हो सकता है, लेकिन उन के विशेष प्रिय विषय संस्कृत साहित्य तथा भारतीय पुरातत्व थे, और इन पर हम उन के लेख बहुधा पावेंगे। परंतु समालोचक के रूप में उन का जो कार्य है उसे हम सब से अधिक स्मरण रक्खेंगे। आचार्य द्विवेदी ने, अपने समय में, आलोचना की शैली को एक नया रूप प्रदान करने में जितना प्रयत्न किया उतना किसी दूसरे व्यक्ति ने नहीं। इसे उन्हों ने रूढ़ियों और परंपरा के गर्त से उबारा। यह सत्य है कि आचार्य द्विवेदी सदा स्वयं पुराने प्रभावों से मुक्त नहीं जान पड़ते। फिर भी समालोचना के क्षेत्र में उन्हों ने नवीन मार्ग प्रदर्शन किया और जिस मार्ग पर उसे उन्हों ने चलाया, उस मार्ग पर वह प्रायः चल रही है।

यदि हम आचार्य द्विवेदी को एक शैलीकार की दृष्टि से देखते हैं तो हम उन्हें ऊँचे आसन का अधिकारी पाते हैं। यह अकसर कहा गया है कि आचार्य द्विवेदी की कोई एक शैली नहीं थी, वरन् कई शैलियां थीं। वस्तुतः आचार्य जी की शैली स्वयं विकास पाती रही है, इस लिए उस में किन्हीं अंशों में हम समता का अभाव पाते हैं। लेकिन उस की प्रगति आरंभ से ही स्पष्ट और लक्षित रही है। वह शब्दाडंबर से घृणा करते थे। भाषा के विषय में वह 'विशुद्धता' के हामी न थे। वह निरंतर उसे सरल बनाने के प्रयत्नशील रहे, जिस से वह अधिक से अधिक लोगों की समझ में आ सके। यदि उन की शैली में

कोई विषमताएं मिलेंगी, तो उस का कारण यह है कि उन्हों ने विभिन्न विषयों पर लेखनी चलाई है, और विषयों के साथ ही भाषा की शैली थोड़ी-बहुत बदलेगी ही। परंतु जान-बूझ कर उन्हों ने अपने विषय को क्लिष्ट बनाने का प्रयत्न किया, ऐसा उन के संबंध में नहीं कहा जा सकता। उन की शैली का अनुकरण करने वाले बहुत उपजे, और यह कहना ग़लत न होगा कि किसी न किसी अंश में उस का समस्त समसामयिक लेखकों पर प्रभाव पड़ा।

(८)

आचार्य द्विवेदी की साहित्यिक सेवाएं विविध और विभिन्न रही हैं, परंतु अंततः उन की ख्याति 'सरस्वती' के संपादक के रूप में रहेगी। हम ने देखा है कि किस प्रकार, बीस वर्षों तक, अपने लेखों और मतों द्वारा उन्हों ने हिंदी साहित्य-संसार पर प्रभाव डाला है। लेकिन यह बात कुछ पीछे पड़ जाती है कि उन का बहुत-सा समय और लोगों की रचनाओं को सुधार कर छापने योग्य बनाने में लग गया है। नागरी-प्रचारिणी सभा बनारस में सुरक्षित उन के बहुत से काग़ज़-पत्रों से इस का हम कुछ अनुमान कर सकेंगे। आज दिन एक हिंदी पत्रिका के संपादक के पास इतने लेख आते हैं कि वह बहुतों को अस्वीकृत कर सकता है। उस समय लेखकों को उत्पन्न करने का प्रश्न था। आचार्य द्विवेदी के पास जो लेख आते, उन में अधिकांश कट-छँट सुधर कर ऐसा रूप ग्रहण कर लेते कि लेखकों को स्वयं आश्चर्य होता और इस से बड़ी शिक्षा ग्रहण करते। इसी से द्विवेदी जी का आचार्यत्व सार्थक होता है। फिर भी इस काम में जितना समय लग जाता वह तो, जैसा बता चुके हैं उन के रचनात्मक कार्य में बाधक होता। अतएव 'सरस्वती' के उन के संपादकत्व में निकले अंकों को ही हम उन का सब से अच्छा स्मारक समझ सकते हैं। यदि आचार्य द्विवेदी के अनेक विचार और मंतव्य आज स्वभावतः स्वीकृत दिखाई देते हैं, तो हमें ऐसा न खयाल कर लेना चाहिए कि उन को मान्य बनाने के कार्य में उन्हें कठिन उद्योग नहीं करना पड़ा। लेकिन अब उन के बहुत से विचार ऐसे मान्य हो गए हैं कि उन के विषय में संशयात्मक प्रश्न नहीं उठते। हिंदी साहित्य आज बहुत उन्नत और जागरूक है। उसे इस परिस्थिति पर पहुँचाने में, यदि किसी एक व्यक्ति का हाथ, अन्य लोगों के साहाय्य की अपेक्षा अधिक है, तो हमें कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करना चाहिए कि वह व्यक्ति आचार्य द्विवेदी हैं। उन के वर्षों के निरंतर और कठिन श्रम का फल है कि हिंदी साहित्य आज इतना जागृत है।

(६)

आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व के विषय में क्या कहा जाय ? इस संबंध में अन्य लोग जो उन के संपर्क में रहे हैं, कहने के विशेष अधिकारी हैं। वह सीधे-सादे हिंदू गृहस्थ और सच्चे ब्राह्मण थे। उन का आजन्म विद्या-प्रेम, उन की अत्यंत विनम्रता, उन का संतोष—यह ऐसे गुण हैं जिन की प्रशंसा उचित ही है, और जिन्हों ने उन्हें उन सभी लोगों की दृष्टि में आदर का पात्र बनाया जो उन के संपर्क में आए। वह बहुत सादा जीवन व्यतीत करते थे। अपने जीवन के अंतिम तीस वर्षों में वह विधुर रहे। उन की ४६ वर्ष की अवस्था में उन की धर्मपत्नी का स्वर्गवास हो गया था। शेष जीवन भर उन्हों ने अपनी पत्नी की स्मृति की पवित्रता से रक्षा की और एक मंदिर बनवा कर उन की प्रतिमा की स्थापना की। उन की दिनचर्या बड़ी नियमित थी; अंत तक स्वाध्याय में बहुत-सा समय लगाते रहे। उन्हें बाग़ लगाने का शौक़ था और आम के कई बाग़ उन्हों ने लगाए। खेती का भी शौक़ था। मज़दूरों को उन्हों ने कुटुंबियों के समान जाना। उन के अंतिम दिन ग्राम-सुधार में व्यतीत हुए। अपने गाँव की पंचायत के वह सरपंच रहे, और गाँव में शिक्षा-प्रचार का काम भी उन्हों ने बड़ी लगन से किया। स्वयं बड़े मितव्यय से रहते; लेकिन अपनी संपूर्ण शक्ति भर वह दान-धर्म करते रहते।

स्वभाव के वह अत्यंत सरल थे। यद्यपि वह तीव्र आलोचना करने में कभी भी न हिचकते, परंतु अपने मन में तनिक भी मालिन्य दूसरे आदमी के प्रति न रखते। वह एक मात्रा में विनोदी भी थे। लोभ उन्हें छू नहीं गया था। अपनी कमाई का बहुत-सा धन उन्हों ने हिंदू विश्व-विद्यालय को दान कर दिया था। अपना बड़ा और सुंदर पुस्तकालय उन्हों ने काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा को दे दिया था। साथ ही उन्हों ने अपने बहुत से काग़ज़ पत्र भी सभा को प्रदान किए थे। कुछ ऐसे भी पत्र इन में हैं जिन के संबंध में कहा जाता है कि उन का आदेश था कि उन की मृत्यु के अनंतर ही खुलें। प्रतिष्ठा के भूखे वह कभी नहीं थे। कई यूनिवर्सिटियों की ओर से उन्हें डाक्टर की उपाधि प्रदान करने की चर्चा उठी, लेकिन वह इस के प्रति विरक्त रहे। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने सभापतित्व प्रदान कर के उन्हें सम्मानित करना चाहा, परंतु उन्हों ने अपनी असमर्थता प्रदर्शित कर दी। इसी प्रकार हिंदुस्तानी एकेडेमी की फ़ेलोशिप भी उन्हों ने न चाही। केवल नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्हों ने अपने ७० वें जन्मदिवस के अवसर पर सन् १९३३ में एक

अभिनंदन-ग्रंथ स्वीकार किया। उसी वर्ष इलाहाबाद में उन के नाम पर एक साहित्यिक मेला हुआ जो कि अपने ढंग का पहला समारोह था। इलाहाबाद से जो उन का घनिष्ट संबंध रहा था, उसे देखते हुए उन्हों ने इस मेले में सम्मिलित होना स्वीकार किया। यह बात सत्य है कि उन का कार्य समाप्त हो चुका था; लेकिन उन की उपस्थिति सभी हिंदी साहित्यसंबंधी नए उद्योगों के लिए आशीर्वाद-रूप थी।

हिंदी साहित्य के इतिहास में उन का नाम उस के निर्माताओं के रूप में अमिट रहेगा।
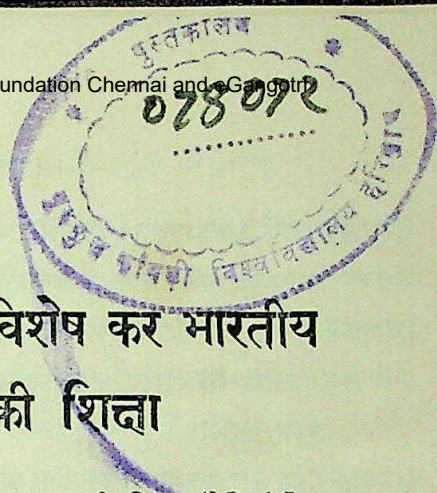
यूरोप में विदेशी, विशेष कर भारतीय भाषाओं की शिक्षा

[लेखक—डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्०ए०, डी०लिट्० (पेरिस)]

आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि जिन परिस्थितियों में हिंदी, अथवा किसी भी विदेशी भाषा—चाहे वह यूरोपीय भाषा क्यों न हो—की शिक्षा यूरोप के किसी देश में दी जाती है वह उन परिस्थितियों से बिल्कुल भिन्न है, जिन से हम भारतीय अपने देश में परिचित हैं।

सदा किसी विशेष उद्देश्य से ही कोई सरकार एक विदेशी भाषा की शिक्षा का प्रबंध करेगी। जिस उद्देश्य अथवा जिन उद्देश्यों से यूरोपीय सरकारों ने अपने-अपने देशों में भारतीय भाषाओं की शिक्षा का प्रबंध संचालित किया उन्हें ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में, जब यूरोपीय जातियां, मुख्यतया व्यापारिक संबंध के कारण भारतवर्ष से संपर्क में आईं, तब उन्हें कुछ ऐसे दुभाषियों की आवश्यकता हुई जो उन के धंधों में सहायता दे सकें। अतएव उस समय भारतीय भाषाओं के अध्ययन और शिक्षा का विशेष-रूप से संगठन करने की आवश्यकता न हुई। यह बात भी थी कि समकालीन जीवित भारतीय भाषाओं का अध्ययन भाषा-शास्त्र और साहित्य की दृष्टि से बहुत महत्व का न समझा जाता था। अठारहवीं शताब्दी के अंत में हमारे देश की सब से प्राचीन भाषा संस्कृत से यूरोपीयों का परिचय हुआ। इस से यूरोपीय विद्वानों की आँखें खुल गईं। इस में उन्हें स्वयं अपनी भाषाओं का प्राचीन इतिहास प्रतिबिंबित जान पड़ा। इस अति प्राचीन भारतीय भाषा के साहित्य ने उन के अपने सांस्कृतिक इतिहास के प्राक्-ऐतिहासिक युग पर नया प्रकाश डाला। यह इतिहास उन्हों ने समझ रक्खा था कि सदा के लिए लुप्त हो गया है। यूरोप के एक प्रख्यात संस्कृतज्ञ के शब्दों में "संस्कृत का अध्ययन एक स्थायी आकर्षण इस लिए रखता था कि भारत की इस प्राचीन भाषा का घनिष्ट संबंध

यूरोप की पुरानी (क्लासिकल) भाषाओं से प्रमाणित हुआ, और इस में भाषा के इतिहास के लिए साधारणतः बड़ी छिपी हुई सामग्री प्राप्त हुई। वेदों ने विद्वानों के एक बड़े वर्ग का ध्यान अपनी ओर कदापि न खींचा होता, यदि इस प्राचीन साहित्यिक अवशेष द्वारा अधिकांश प्रमुख प्राचीन जातियों के अंधकार-पूर्ण युगों पर अचानक प्रकाश न पड़ा होता।"[1]

क्रमशः यूरोपीय राष्ट्रों में से एक, अर्थात् ब्रिटेन का हिंदुस्तान से गहरा राजनैतिक संबंध हो गया, और अब व्यापारिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त उसे नई नीति के निर्धारण में, शासन-क्षेत्र में, और ईसाई धर्म-प्रचार के कार्य में भी उद्योग करना पड़ा। अतएव अंग्रेज़ों में से कुछ के लिए संस्कृत का ज्ञान उपार्जन तथा अभ्यास करना व्यावहारिक दृष्टि से बहुत आवश्यक हो गया। यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय तक हिंदुस्तानियों में अंग्रेज़ी जानने वाले संस्कृत के विद्वान् नहीं उत्पन्न हुए थे। उपर्युक्त विचार के समर्थन में एक उद्धरण मनोरंजक होगा। यह उद्धरण 'कास्ट' या वर्णधर्म शीर्षक निबंध से लिया गया है, जो कि जर्मन संस्कृतज्ञ मैक्समूलर ने १९५८ में लिखा था। चूंकि उस समय कोई बड़ा संस्कृत का विद्वान् इंग्लिस्तान में मौजूद न था, इस लिए अंग्रेज़ों ने जर्मन विद्वान् मैक्स-मूलर की सहायता ली। सायणाचार्य की टीका सहित ऋग्वेद के पहले छपे संस्करण के प्रकाशन के लिए हिंदू 'मोक्षमूलर' के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने में नहीं थकते। इस वृहत्कार्य के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने धन दिया था। कंपनी बहादुर और उस के जर्मन कर्मचारी ने जो इस संबंध में अद्भुत दिलचस्पी दिखाई उस का रहस्य कदाचित् बहुत से हिंदुस्तानियों को न ज्ञात हो। इस वृहद् ग्रंथ का संपादक मैक्समूलर स्वयं इस प्रकार लिखता है—

"मुसलमानों के साथ शास्त्रार्थ करने में, और इधर हाल में पादरियों के साथ विवाद करने में भी, ब्राह्मण लोग दबाए जाने पर निरपवाद रूप से वेद का प्रमाण देते। मनुस्मृति और अन्य स्मृतियां छप चुकी थीं और उन के अनुवाद भी हो चुके थे। उन के कुछ पुराणों के अनुवाद भी अंग्रेज़ी और फ़ांसीसी में हो चुके थे। इन के संबंध में पादरी उन से अध्याय और श्लोक के हवाले माँग सकते थे। परंतु वेद दोनों पक्षों के लिए अज्ञात थे और ब्राह्मणों का यह आग्रह था, जिसे कि पादरियों को मानना पड़ता, कि वेदों में वह सब

---

[1] **मैक्समूलर, 'ऋग्वेद संहिता की भूमिका', जिल्द ३ (१८५६)**

कुछ है जो दूसरी जगह नहीं है। पुरानी इंजील की कोई भी ऐसी आज्ञा न थी जो ब्राह्मणों के अनुसार वेदों में न मिल जावे। ईसाइयों के कोई ऐसे सिद्धांत न थे जिन्हें वेदों ने पहले से ही न वर्णित किया है। यदि पादरी इसे विश्वास न करके वेदों की हस्तलिखित प्रतियां देखना चाहते, तो उन से कह दिया जाता कि यह पवित्र पुस्तकें हैं और नास्तिकों को नहीं दिखाई जा सकतीं। बात यहीं पर समाप्त हो जाती।

"इस परिस्थिति में यह अनुभव किया गया कि वेद के एक संस्करण से ही पादरियों को सब से अधिक सहायता मिल सकती है। संस्कृत का जो कोई विद्वान् इस पुस्तक का संपादन करे उस के लिए पुरस्कार की विज्ञप्ति हुई, परंतु प्रथम खंड के अनंतर जिस का कि संपादन डाक्टर रोज़ेन ने १८३८ में किया था, यह कार्य अग्रसर न हो सका। ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों ने, जो पादरियों की सभी न्याय्य रीतियों से सहायता करने के लिए सदा तत्पर रहते थे, ऐशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता की मारफ़त पंडितों को निमंत्रित किया, कि वह इस कार्य को उठावें और अपनी पवित्र पुस्तकों का एक संपूर्ण और प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करें। उन के उत्तरों से यह सिद्ध हुआ, जो पहले से ही ज्ञात था, कि समस्त बंगाल में एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं है जो वेद का संपादन कर सके। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी, वेद अब इस देश में ईस्ट इंडिया कंपनी के संरक्षण में प्रकाशित हो रहा है। पादरियों ने अभी ही वेद के इस संस्करण और उस के भाष्य से बहुत सहायता प्राप्त की है और बराबर भिन्न धर्म-प्रचारक सोसाइटियों से मूल ग्रंथ तथा उस के अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए प्रार्थना-पत्र आ रहे हैं। यद्यपि ब्राह्मणों ने अपने पवित्र ग्रंथों का एक म्लेच्छ द्वारा प्रकाशन पसंद नहीं किया; फिर भी वह इतने ईमानदार हैं कि इसे स्वीकार करते हैं कि संस्करण प्रामाणिक और पूर्ण है।"[१]

संस्कृत का अध्ययन हिंदुस्तान के शासन-कार्य में किस प्रकार सहायक हो सकता था, यह बात उस लेख को साद्यंत पढ़ने से स्पष्ट हो जायगी, जिस से कि उपर्युक्त उद्धरण लिया गया है। यहां पर उदाहरण के लिए केवल एक बात लिखना पर्याप्त होगा। तथा-कथित भारतीय विद्रोह (१८५७) का एक कारण सिपाहियों की वर्णव्यवस्था में हस्तक्षेप कहा जाता है। अतएव ब्रिटिश शासक भारतीय वर्णव्यवस्था का इतिहास जानने के लिए

---

[१] 'चिप्स फ़ाम ए जर्मन वर्कशाप', जिल्द २, पृ० ३०९–३११

उत्सुक थे, जिस में भविष्य में वह ऐसे शासनकार्यों में, जिस का लगाव इस प्रश्न से हो, उचित नीति ग्रहण कर सकें। यह लेख सन् १८५८ में लिखा गया और अंग्रेज़ी सरकार के कहने पर इंग्लिस्तान के संस्कृतज्ञों की जिज्ञासा का परिणाम है। म्योर साहब के 'संस्कृत पाठ' की एक जिल्द भी इसी दिशा में शोध का एक दूसरा परिणाम है। संस्कृत मूलपाठों के फलस्वरूप, मैक्समूलर के, ब्रिटिश और ईसाई हितों की दृष्टि से निकाले गए निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

"वर्तमान परिस्थिति में, यदि सरकार यह घोषित कर दे कि वह वर्ण-व्यवस्था को हिंदू धर्म का अंग नहीं मानती तो उस का कार्य पूर्णतया न्याय्य होगा। वर्ण-व्यवस्था, जैसा कि उस का आधुनिक अर्थ लगाया जाता है, एक धार्मिक संस्था नहीं है। ब्राह्मणों के पवित्र ग्रंथों में इस का कोई प्रमाण नहीं मिलता, और हिंदुस्तान के निवासियों के धर्म का आदर करने के लिए सरकार ने जो भी वचन दे रक्खा हो, वह इस बात से भंग न होगा कि वह वर्ण-व्यवस्था के पालन पर लोगों को दंड दे। यह बात भिन्न होगी कि ऐसा कार्य उचित या नीतियुक्त भी है। क्योंकि यद्यपि वर्ण-व्यवस्था एक धार्मिक संस्था नहीं है, फिर भी यह एक सामाजिक संस्था है और देश के विधान पर आश्रित है। यह शताब्दियों से विकास पाती रही है और समस्त हिंदू समाज इसी के ढाँचे में ढला हुआ है। इन कारणों से वर्ण-व्यवस्था के प्रश्न को अधिक सतर्कता से देखना पड़ेगा। ठीक तो यह हो कि इस प्रश्न पर स्वतंत्र-रूप से विचार किया जाय और धर्म-विषयक तर्क इस में भिड़ा कर विषय को और भी उलझाया न जाय। यदि वर्ण-व्यवस्था को हिंदुस्तान में माना जाता है तो दोनों पक्षों को यह स्पष्ट रूप से समझ-बूझ लेना चाहिए कि ऐसा धार्मिक आधार पर नहीं किया जाता। यदि वर्ण-व्यवस्था को दबाया जाता है तो यह कार्य नीति और पुलीस के आधार पर होना चाहिए।"[१]

मैक्समूलर की पादरियों के प्रति सलाह इस से भिन्न है—"पादरियों को इतनी उग्रता का व्यवहार करने पर विवश न होना चाहिए। उन का, देश के निवासियों से, विशेष कर उन लोगों से जिन्हों ने उन का (ईसाई) मत स्वीकार कर लिया है, संबंध व्यक्तिगत है। उन की बहुत कुछ सफलता देशवासियों के विश्वासों के प्रति समझदारी से काम लेने

---

[१] **मैक्समूलर, 'चिप्स फ़ाम ए जर्मन वर्कशाप', जिल्द २, पृ० ३२२–२३**

में है।"[1] उसी लेख में एक दूसरे स्थल पर लेखक कहता है—"वर्णव्यवस्था जो अब तक हिंदुओं में (ईसाई) धर्म-प्रचार के काम में बाधक रही है, भविष्य में इस प्रचार के पक्ष में न केवल व्यक्तियों के वरन् भारतीय समाज के पूरे वर्गों के मत-परिवर्तन में प्रबल साधन बन सकती है।"

संक्षेप में ऊपर बताए गए विभिन्न उद्देश्यों से यूरोपीय विद्वान् और सरकारें, विशेष कर ब्रिटिश विद्वान् और सरकार, प्राचीन भारतीय भाषाओं, साहित्यों और सांस्कृतिक संस्थाओं के अध्ययन में दिलचस्पी लेने लगे और इस का परिणाम यह हुआ कि क्रमशः पिछले १०० वर्षों के भीतर प्रायः सभी ब्रिटिश यूनिवर्सिटियों में इन विषयों के अध्यापन का प्रबंध हो गया है। इंग्लिस्तान से बाहर यूरोपीय देशों में भी ऐसे कई केंद्रों में—जैसे पेरिस, बर्लिन, प्राहा, सेंट पीटर्सबर्ग में—भारतीय भाषाओं के अध्ययन का प्रबंध किया गया। हिंदुस्तान के विषय में ठीक-ठीक जानकारी ब्रिटेन के लिए बड़ी उपयोगी है। इस बात को भुलाना न चाहिए कि यही जानकारी कुछ हद तक उस के मित्रों और शत्रुओं के लिए भी उपयोगी हो सकती है। एक बात और भी स्मरण रखने की है। वह यह कि यूरोपीय राष्ट्रों में आपस में शासन और व्यापार के क्षेत्रों में हिंदुस्तान को लेकर मतभेद हो सकता है, लेकिन धर्म-प्रचार के क्षेत्र में सभी एक हो जाते हैं।

यूरोप में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन का इतिहास प्रायः वैसा ही है जैसा कि प्राचीन भाषाओं के अध्ययन का। केवल एक अंतर रहा है, वह यह है कि प्राचीन भाषाओं की ओर ध्यान बहुत पहले गया था, इस लिए दौड़ में वह आगे है। यूरोप में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन का सब से अच्छा प्रबंध स्वभावतः लंदन में है, यद्यपि यहां पर भी इस का नियमित प्रबंध हुए बहुत समय नहीं हुआ। यह प्रबंध ठीक-ठीक विगत महायुद्ध के बाद ही हो पाया है। इस संबंध में कुछ विवरण अप्रासंगिक न होगा।

प्रायः एक सौ वर्ष के व्यक्तिगत तथा निजी संस्थाओं के असफल प्रयत्नों के बाद, सन् १९०७ में एक सरकारी कमेटी बैठी जिस का कि उद्देश्य लंदन में प्राच्य विषयों की शिक्षा के संगठन पर विचार करना था। इस कमेटी के निर्णयों में से कुछ यहां पर ज्ञातव्य हैं—

---

[1] मैक्समूलर, 'चिप्स, फ्राम ए जर्मन वर्कशाप', पृ० ३५७

"(१) पूर्वीय देशों और अफ़्रीका में शासन-संबंधी अथवा व्यापारिक पदों को ग्रहण करने के लिए जो लोग जाने वाले होते हैं, उन की उचित शिक्षा के लिए लंदन में प्रबंध होने की बड़ी आवश्यकता है। जिन देशों में कार्य करने के लिए इन की नियुक्ति होती है, उन देशों की भाषा का ज्ञान और कुछ प्रारंभिक ज्ञान उन देशों के इतिहास और धार्मिक तथा सामाजिक रिवाजों का इन लोगों के लिए होना अनिवार्य है।

"(२) कमेटी विशेष कर इस बात पर ध्यान दिलाना चाहती है कि इस संबंध में जो व्यवस्था पेरिस, बर्लिन, और सेंट पीटर्सबर्ग में है, उसे देखते हुए लंदन घाटे में है। चूँकि इंग्लैंड ऐसा देश है, जिस का अन्य देशों की अपेक्षा पूर्वीय देशों से संबंध महत्वपूर्ण है, इस लिए उस की राजधानी में प्राच्य विषयों के एक स्कूल का अभाव राष्ट्र के लिए लांछन की बात है।"[1]

यह उद्देश्य उस प्रस्ताव से और भी स्पष्ट हो जाता है जो कि लंदन की एक सार्वजनिक सभा में सन् १९१४ में स्वीकृत हुआ था। इस सभा का उद्देश्य उपर्युक्त कार्य के लिए धन एकत्र करना था। लार्ड कर्ज़न ने निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किया था——

"इस बात को ध्यान में रखते हुए कि महान् साम्राज्यकीय और व्यापारिक हित प्राच्य और अफ़्रीका के देशों की भाषाओं, साहित्यों और सामाजिक रीति-रिवाजों के अध्ययन की सुविधाएं उपस्थित करने पर आश्रित हैं, यह सभा लंदन नगर में स्कूल अव् ओरियंटल स्टडीज़ की स्थापना की योजना का हार्दिक समर्थन करती है।"

इसी सभा में एक और प्रस्ताव स्वीकृत हुआ जो इस प्रकार है——

"यह सभा लंदन नगर के व्यापारी-वर्ग और सर्वसाधारण के समक्ष उस अपील का अनुमोदन करती है जो स्कूल अव् ओरियंटल स्टडीज़ को १९१५ से सुचारु रूप से चलाने और उस की आर्थिक नींव के दृढ़ करने के हित धन के लिए की गई है।"

सन् १९०७ में नियुक्त की गई कमेटी की सिफ़ारिशें बाद में १९१६ में संस्थापन-पत्र (चैप्टर अव् इन्कारपोरेशन) में इन शब्दों में ग्रहण की गईं——

---

[1] लंदन के स्कूल अव् ओरियंटल स्टडीज़ का कैलेंडर, पृष्ठ २३

"इस स्कूल का उद्देश्य, लंदन यूनिवर्सिटी की अवधानता में प्राच्य शिक्षा का एक ऐसा विद्यालय उपस्थित करना है जो पूर्वीय और अफ़्रीका के लोगों की प्राचीन तथा आधुनिक भाषाओं का और इन लोगों के साहित्य, इतिहास, धर्म, विधान, रीति-रिवाज और कला के अध्ययन, शोध और शिक्षा का प्रबंध करे, विशेष कर उन लोगों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, जो कि पूर्वीय देशों अथवा अफ़्रीका में सरकारी नौकरी, व्यापार, या अन्य धंधों या पेशों के संबंध में जाते हैं. . . ."

स्कूल के कैलेंडर[१] में यह भी लिखा है कि "यह व्याख्यान और दर्जे उन लोगों के लिए भी खुले रहेंगे जिन्हों ने प्रवेशिका (मैट्रिकुलेशन) परीक्षा नहीं पास की है, और यूनिवर्सिटी का पूरा पाठ्यक्रम नहीं लेना चाहते—विशेष कर उन लोगों के लिए जो पूर्वीय देशों में या अफ़्रीका में किसी धंधे से जाना चाहते हों, चाहे वह धंधा सरकारी नौकरी हो, चाहे धर्मप्रचार या व्यापार या अन्य कोई, और उन लोगों के लिए जो कि पूर्वीय देशों से लौटे हों और इंग्लिस्तान में रह कर अपने विषय का आगे अध्ययन करना चाहते हों।" "जहाज़ी बेड़ों के, फ़ौजी, और हवाई सेना के अफ़सरों के लिए; सूदान या औपनिवेशिक नौकरियों वालों के लिए; पादरियों के लिए; और बंक वालों तथा अन्य व्यापारियों के लिए खास दर्जे लगते हैं।"

स्कूल की प्रबंधकारिणी समिति के संगठन में भी उस के उद्देश्य का ध्यान रक्खा गया है, और अन्य प्रतिनिधियों के अतिरिक्त उन में निम्न सदस्य हैं—विदेशी राजनीति तथा उपनिवेशों के प्रमुख मंत्रियों की ओर से निर्वाचित एक-एक सदस्य; लंदन चेंबर अव् कामर्स (व्यापार-संघ) की ओर से निर्वाचित एक सदस्य; भारत-मंत्री की ओर से नियुक्त दो सदस्य; प्रबंधकारिणी की ओर से निर्वाचित तीन ऐसे सदस्य जो व्यापारिक हितों को ध्यान में रख कर चुने गए हों।

इस स्कूल का उद्घाटन उपयुक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए १८ जनवरी, सन् १९१७ में हुआ। इस का आरंभ ९ छात्रों से हुआ था। अब इस में ५५० विद्यार्थियों की साधारणतः उपस्थिति रहती है।

निम्न-लिखित भाषाओं में शिक्षा का प्रबंध है—अफ़्रीका की भाषाएं, जिन में

---

[१] पृ० ३५

२० भिन्न बोलियां सम्मिलित हैं; अरबी; तुर्की; ज्यार्जियन; आर्मीनियन; ईरानी; संस्कृत; पाली; प्राकृत और हिंदुस्तान की प्रायः सभी आधुनिक भाषाएं; तिब्बती या भोट; बर्मी; ताई; चीनी वर्ग की भाषाएं जिन में मान्-ख्मेर, आस्ट्रोनीसियन, पैपुअन, जापानी और मंगोल भाषाएं हैं। स्कूल की शिक्षा में ध्वनिविज्ञान, संस्कृति, इतिहास और भाषाविज्ञान की शिक्षाएं सम्मिलित हैं।

स्कूल अपने उद्देश्य का उचित रीति से पालन कर रहा है, यह बात १९३४–३५ के कुछ आँकड़ों से ज्ञात हो सकती है। यह आँकड़े उन विद्यार्थियों की संख्या के हैं जिन्हों ने कि स्कूल में शिक्षा प्राप्त की है। शिक्षार्थी विभिन्न वर्गों के होते हैं, कुछ पूरा समय देते हैं, कुछ थोड़ा समय, और कुछ अनिश्चित समय लगाते हैं। उन का विवरण इस प्रकार है—

शोध और उपाधि के लिए पढ़ने वाले . . .	५५
इंडियन सिविल सर्विस में नियुक्ति-प्राप्त शिक्षार्थी . .	११
सरकारी सैनिक	२३
उपनिवेशों की सर्विस वाले शिक्षार्थी	४१
पादरी	७२
बैंकों या व्यापारिक संस्थाओं से संबद्ध . . .	५२
इतर.	१७०
जोड़ .	४२४

इस संबंध में एक दूसरी तालिका भी मनोरंजक होगी। स्कूल की शिक्षा प्राप्त कर के ब्रिटिश युवक जो विभिन्न देशों में इस वर्ष व्यापार, धर्म-प्रचार, अथवा शासन-कार्य के निमित्त गए इस प्रकार हैं—

अफ़ग़ानिस्तान	१
अफ़्रीका के उपनिवेश	७७
अरब	३
बर्मा	१९
सीलोन (लंका)	६

चीन	२६
ईस्ट इंडीज़	१
ईजिप्ट (मिश्र)	१२
हिंदुस्तान	१०३
ईराक़	५
जापान	६
मलय	२७
फ़िलिस्तीन	१२
ईरान	१६
सूदान	१३
ट्यूनिस	१
टर्की	५

हमारे देशवासियों, विशेष कर यूनिवर्सिटियों से संबद्ध लोगों की सूझ की इस संबंध में प्रशंसा होनी चाहिए। न हमारे उपनिवेश हैं, न धर्म-प्रचारक हैं, न विदेशों में हमारे बैंक या व्यवसाय ही हैं। फिर भी हम ने एक ऐसी संस्था को जिस की स्थापना ब्रिटिश लोगों ने अपने हित के व्यावहारिक उद्देश्यों से की थी ज्ञानोपार्जन का साधन बना लिया। एक अध्ययन-वर्ष, १६३४–३५, के भीतर हम ने ७४ अध्यापकों और प्रतिभावाले विद्यार्थियों को—जो हमारी यूनिवर्सिटियों के अच्छे से अच्छे लोग थे—भारतीय भाषाओं और साहित्य की शिक्षा के लिए इस स्कूल में भेजा। इन में से १० ने अपनी योग्यता के कारण पी-एच्० डी० की उपाधि प्राप्त की। जिन विषयों में शोध करने के लिए हमारे विद्यार्थी इस स्कूल में गए उन में से कुछ इस प्रकार हैं—

पंजाबी सूफ़ी कवि

साहु छत्रपति का शासन-काल

हाली—कवि, आलोचक और जीवनीकार के रूप में—और उस का उर्दू साहित्य पर प्रभाव

बीजापूर राज्य

पंजाब के कुहरों की बोली तथा रीति-रिवाज

गौड़ीय वैष्णवों का साहित्य तथा इतिहास और उन का इतर मध्यकालीन वैष्णव संप्रदायों से संबंध।

आधुनिक भारतीय भाषाओं की शिक्षा के संबंध में यहां पर कुछ और बातों का जान लेना भी उचित होगा। लंदन के स्कूल अव् ओरियंटल स्टडीज़ में हमारे देश की १८ जीवित भाषाओं की शिक्षा का प्रबंध है जिन में आसामी; बँगला; गुजराती; हिंदी; हिंदुस्तानी; सिंधी; उर्दू; सिंहली; शिना; कन्नड़; मलयालम; तमिल; और तेलुगू हैं। यह सूची प्रभाव डालने वाली है, विशेष कर जब हम अपनी यूनिवर्सिटियों की ओर ध्यान देते हैं, जहां कि आधुनिक भारतीय भाषाओं की शिक्षा का बहुत थोड़ा प्रबंध है। उदाहरण के लिए इलाहाबाद यूनिवर्सिटी को ही ले लीजिए जहां केवल दो भारतीय भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था है, अर्थात् हिंदी और उर्दू की। हिंदुस्तानी तक ने, जो कि अधिकारियों, हुक्कामों और अब कांग्रेस की भी कृपापात्री हो रही है—यूनिवर्सिटी के अधिकारियों का ध्यान अपनी ओर नहीं आकृष्ट किया। परंतु लंदन स्कूल अव् ओरियंटल स्टडीज़ की शिक्षा-व्यवस्था के विस्तृत पड़ताल के बिना वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती, और यूरोपीय संस्थाओं में जो विस्तृत प्रबंध हुआ जान पड़ता है, उस का रहस्य नहीं समझ में आता। लंदन में इन १८ भारतीय भाषाओं की शिक्षा के लिए केवल तीन शिक्षक नियुक्त हैं। इस के अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं समझा गया है कि सभी भाषाओं की शिक्षा का प्रबंध हो ही। व्यवहार में देखा गया है कि प्रतिवर्ष तीन या चार भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था हो जाती है। किसी एक भाषा पर सप्ताह में दो या तीन व्याख्यान दिए जायँगे। शिक्षा का क्रम प्रायः सभी यूरोपीय शिक्षा-केंद्रों में दो वर्ष का होता है। प्रति वर्ष के अंत में स्कूल सफल शिक्षार्थियों को एक प्रमाणपत्र देता है। विशेष योग्यता रखने वाले जो विद्यार्थी एक वर्ष तक अतिरिक्त अध्ययन करें उन्हें डिप्लोमा या उपाधि प्रदान की जाती है। पहले वर्ष में जो शिक्षा वहां शिक्षार्थियों को दी जाती है वह हमारे यहां के प्रारंभिक स्कूलों की अ से ले कर पहली कक्षा तक की योग्यता की होती है। दूसरे वर्ष में यही योग्यता कक्षा दो या तीन तक की हो जाती है। पहले या दूसरे साल की पढ़ाई का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए जो परीक्षा होती है उस में दो या तीन लिखित परीक्षा-पत्र होते हैं, जिन में निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट पुस्तकों से शिक्षार्थी की अपनी भाषा में, तथा शिक्षार्थी की अपनी भाषा से चुनी हुई भारतीय भाषा में अनुवाद करने को दिया जाता है,

तथा कुछ व्याकरण के प्रश्न भी पूछे जाते हैं, और जो भाषा सीखने के लिए शिक्षार्थी चुनते हैं, उस के बोलने वालों की संस्कृति के संबंध में भी प्रश्न होते हैं। मौखिक परीक्षा कुछ तो अंग्रेज़ी में होती है, कुछ उस भाषा में जिस का शिक्षार्थी अभ्यास करता होता है। इस में इमला होता है, भाषा-संबंधी प्रश्न किए जाते हैं, और अन्य प्रश्न भी, जैसे किसी ऐसे चित्र का वर्णन करना जिसे कि शिक्षार्थी ने पहले न देखा हो, किसी तत्काल कही गई कहानी का दुहराना, किसी अनिर्दिष्ट पुस्तक से पढ़वाना, वार्तालाप आदि।

यदि यह जानना हो कि इन दो वर्षों में कितनी योग्यता भारतीय भाषाओं में यह विद्यार्थी प्राप्त कर लेते हैं, तो किसी नए विलायत से आए ज्वाइंट मजिस्ट्रेट और उस के बेयरा की बातचीत सुन लीजिए। अपने अनुभव से एक उदाहरण देता हूं। जब मैं पेरिस में था, तो मैं अकसर वहां के 'इकोल नेशनल दि लांग्विस ओरियंतेल विवांती' (जो कि फ़्रांसीसियों का पूर्वीय भाषाओं का स्कूल है) के कुछ विद्यार्थियों को हिंदी पढ़ा दिया करता था। इन में से अधिकांश विद्यार्थी फ़्रांसीसी नवयुवक थे, परंतु चूंकि पेरिस यूरोप में पूर्वीय विषयों के अध्ययन का सब से विख्यात केंद्र है, इस लिए अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के विद्यार्थी भी यहां आते हैं। इन विद्यार्थियों में से एक, एक दिन मेरे पास आया और किंचित् उल्लास के साथ कहने लगा कि उस ने अनुवाद के लिए दिए गए मेरे एक हिंदी वाक्य में ग़लती पाई है। इस के बाद उस ने अपनी कापी खोल कर जो वाक्य दिखाया, वह था "घोड़ा ज़मीन पर लोटा।" नवयुवक विद्यार्थी ने बताया कि क्रिया न होने के कारण यह वाक्य अपूर्ण है। मैं समझ न सका, और आश्चर्य में था। पूछने पर पता चला कि चिरंजीव कोष की सहायता से 'लोटा' का अर्थ 'एक भारतीय जलपात्र' लगा रहे थे, और इस लिए उन के नेत्रों में विजय की किरण थी।

यह जान कर कदाचित् बहुतों को आश्चर्य हो कि लंदन यूनिवर्सिटी की मैट्रिकुलेशन, इंटरमीडिएट, और बी० ए० (पास) परीक्षाओं के लिए आधुनिक भारतीय भाषाएं, जिन में हिंदी भी है, वैकल्पिक विषय हैं। स्कूल अव् ओरियंटल स्टडीज़ में ही उच्च परीक्षाओं के लिए शिक्षा का प्रबंध होता है। साधारणतः स्कूल की प्रमाणपत्र और उपाधिपत्र वाली परीक्षाओं के पाठक्रम में ही थोड़ा-बहुत हेर-फेर करने से काम चल जाता है। यूनिवर्सिटी की परीक्षाओं की व्यवस्था स्कूल की परीक्षाओं की व्यवस्था के समान ही है। उदाहरण के लिए लंदन यूनिवर्सिटी की बी० ए० की परीक्षा के लिए पाठ्यक्रम इस प्रकार है—

१. निर्दिष्ट पाठों से अनुवाद तथा उन पाठों की भाषा तथा विषय पर प्रश्न।

२. अनिर्दिष्ट पाठों से अंग्रेज़ी में और अंग्रेज़ी से हिंदी में अनुवाद।

३. भाषा, साहित्य और व्याकरण-संबंधी प्रश्न।

यूरोपीय विद्यार्थियों के लिए निर्दिष्ट पाठ्य-ग्रंथ दो हैं, अर्थात् तुलसीदास का 'रामचरितमानस' अयोध्याकांड और प्रेमचंद की 'प्रेमपूर्णिमा'।[1]

इस संबंध में अंक नहीं प्राप्त हो सके कि कितने अंग्रेज़ विद्यार्थियों ने लंदन यूनिवर्सिटी की बी० ए० की परीक्षा में हिंदी को अपना वैकल्पिक विषय चुना था। फिर भी यह निश्चित है कि यदि इन में से किसी एक को भी ऐसा दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ होता, तो कोई भी भारतीय यूनिवर्सिटी उसे हिंदी भाषा और साहित्य का प्रोफ़ेसर बना कर गर्व का अनुभव करती!

पूर्वीय भाषाओं की शिक्षा का इतिहास तथा व्यवस्था अन्य यूरोपीय केंद्रों में लंदन से भिन्न नहीं है। मुख्य भेद यह है कि लंदन में इंग्लिस्तान के उपनिवेशों की भाषा और संस्कृति के ज्ञान पर ज़ोर दिया जाता है और अन्य देशों में उन के अपने उपनिवेशों की भाषा और संस्कृति के ज्ञान पर। उदाहरण के लिए इतना बस होगा कि लंदन के स्कूल अव् ओरियंटल स्टडीज़ में आधुनिक भारतीय भाषाओं की शिक्षा के लिए तीन शिक्षक हैं; पेरिस में केवल एक शिक्षक है। परंतु पेरिस में अरबी और चीनी भाषाओं की शिक्षा के लिए अधिक प्रबंध है क्योंकि यह फ़्रांस के उपनिवेशों की प्रमुख सरकारी भाषाएं हैं। प्राचीन पूर्वीय भाषाओं की शिक्षा के विषय में इसी प्रकार का भेद दिखाई पड़ता है। इंदो-चीन में फ़्रांस के उपनिवेश होने के कारण हम देखते हैं कि वहां पाली और बौद्ध-धर्म के अध्ययन पर विशेष ज़ोर दिया जाता है; इंग्लिस्तान में संस्कृत के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया गया है।

स्पष्ट बात यह है कि यूरोपीयों का दृष्टिकोण अत्यंत व्यावहारिक है। वह उन पूर्वीय भाषाओं, साहित्यों, तथा जनता की संस्कृतियों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं जिन से उन का अनेक कारणों से संबंध रहता है। यह ज्ञान बहुधा प्रारंभिक मात्र होता है। इस ज्ञान की पूर्ति प्रायः उपनिवेशों के शिक्षित निवासियों द्वारा होती है। वह अपने

---

[1] स्कूल अव् ओरियंटल स्टडीज़ का कैलेंडर, पृ० १४१

स्वामियों को अपने-अपने प्रदेशों की भाषाओं से भी अधिक परिचित करते हैं, तथा साम्राज्य की भाषा के माध्यम से औपनिवेशिक समस्याओं तथा प्रश्नों को समझाते रहते हैं। यदि उपनिवेशों के निवासी अंग्रेज़ी अथवा फ़्रांसीसी अच्छी तरह लिख तथा बोल लेते हैं तो अंग्रेज़ों तथा फ़्रांसीसियों के उन की भाषाओं के जानने की आवश्यकता कम हो जाती है।

इस बात को अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि—कुछ परिस्थितियों के कारण, विशेष कर यूरोपीय देशों के पूर्वीय देशों के साथ राजनैतिक संबंध के कारण—यूरोपीय देशों में पूर्वीय भाषाओं के अध्ययन के लिए कुछ विशेष सुविधाएं प्राप्त हैं—

(१) उदाहरण के लिए, एक सुविधा तो यह है कि यूरोपीय विद्वानों ने अपनी भाषाओं तथा साहित्य के संबंध में बहुत-सा काम कर रक्खा है। उस से हमें अपनी भाषाओं तथा साहित्य के संबंध में शोध का काम करने के लिए परिपाटी का ज्ञान हो सकता है, और काम के विभिन्न नमूने प्राप्त हो सकते हैं।

(२) यह बात आश्चर्यजनक होते हुए भी सत्य है कि भारतीय भाषाओं के संबंध में शोध का कार्य करने के लिए जैसे पुस्तकालयों की आवश्यकता है, वह हिंदुस्तान में नहीं हैं, वरन् इंग्लिस्तान में मिलेंगे। यह एक क़ानून द्वारा लगाया गया नियम है कि हिंदुस्तान में छपी प्रत्येक पुस्तक की तीन प्रतियां सरकार में दाखिल करनी होती हैं। इन में से एक या दो हिंदुस्तान में कदाचित् सेक्रेटरियट अथवा अन्य स्थानीय दफ़्तरों में रह जाती हैं—कम से कम जनता या विद्यार्थियों के लिए सुलभ नहीं होतीं—और तीसरी प्रति ब्रिटिश म्यूज़ियम के पुस्तकालय में रक्खी जाती है। इस तरह वहां हिंदी की प्रत्येक छपी पुस्तक अध्ययन के लिए मिल सकती है, जो इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली, कलकत्ता या हमारे देश में अन्यत्र कहीं भी असंभव है।

(३) संस्कृत और हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों के जैसे बड़े संग्रह यूरोप में हैं यहां नहीं। हमारी अन्य ऐतिहासिक अथवा इतर वस्तुओं के साथ हस्तलिखित पुस्तकें भी वहां पहुँच गई हैं। परिणाम यह होता है कि हम लंदन में इंडिया आफ़िस के वाचनालय में बैठ कर प्रसिद्ध हिंदी ग्रंथों के मूल का

जैसा संपादन कर सकते हैं, वैसा वर्षों हिंदुस्तान के हिंदी पुस्तकालयों में घूम कर भी नहीं कर सकते। बनारस की नागरी-प्रचारिणी सभा और इलाहाबाद की हिंदुस्तानी एकेडेमी जैसी सुस्थापित संस्थाओं में भी हस्तलिखित पुस्तकों के प्राय: नगण्य संग्रह हैं।

यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि यूरोप में अपेक्षाकृत गिनती में विद्वान् अध्यापक अधिक हैं। भारतीय भाषाओं के प्रारंभिक ज्ञान कराने के लिए नियुक्त किए गए इन शिक्षकों में बहुधा अपने विषय के लिए बड़ी ही लगन हो आती है। वह अपने विषय के क्षेत्र की सभी छोटी से छोटी जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं। यह ठीक है कि उन की कठिनाइयां बड़ी हैं, क्योंकि जिन भाषाओं को वह पढ़ाते हैं उन पर उन का वास्तविक अधिकार थोड़ा ही, और बहुत सीमित रहता है। फिर भी उत्साह, स्वतंत्र विचार, और मनन के गुण उन में उन की साधारण शिक्षा के परिणाम-स्वरूप होते हैं, और इन गुणों का पूरा उपयोग वह करते हैं; और इन में से बहुत से ऐसे होते हैं जिन से संपर्क में आ कर सच्ची प्रेरणा प्राप्त होती है।

इस प्रकार की साधारण सुविधाओं की सूची बढ़ाई जा सकती है, परंतु किसी एक शाखा पर विस्तृत अध्ययन करने की आवश्यकता होती है तो अनेक कठिनाइयां होती हैं जिन में से कुछ का संकेत इस लेख में किया जा चुका है।

———

सत्रहवीं सदी ईस्वी के 'हिंदुस्तानी' गद्य का नमूना

[लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्०ए०, एल्-एल्० बी०]

अब तक की खोज से यद्यपि यह सिद्ध था कि 'हिंदुस्तानी' नाम हमारी इस भाषा के लिए जिसे हम आज राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं ईसा की सोलहवीं शताब्दी से ही प्रयोग में आता रहा है,[1] किंतु अभी तक हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं था कि इस नाम का प्रयोग विदेशीय लोगों के अतिरिक्त स्वदेशवासी भी करते थे। हर्ष की बात है कि अब हमें एक ऐसा प्रमाण प्राप्त हो गया है, जिस से यह सिद्ध होता है कि 'हिंदुस्तानी' नाम का प्रयोग स्वदेशवासी भी, यदि और पहले नहीं तो, ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में करते थे, और यह उस समय भी 'हिंद की बोली' थी और बहुत 'प्यारी' मानी जाती थी।

क़ैसरबाग़, लखनऊ, में अमीरुद्दौला प्रॉविंशियल लाइब्रेरी नाम का जो पुस्तकालय है, उस में देवनागरी लिपि में लिखी हुई एक विशालकाय हस्तलिखित प्रति है। इस का आकार अनुमान से १५″ × १०″ है, और इस में ४४७ पन्ने या ८९४ सफ़हे हैं, और प्रत्येक सफ़हे पर पंक्ति-संख्या २७ है, और प्रत्येक पंक्ति में शब्द-संख्या औसतन् लगभग १५ है। इसी से इस के विशालकाय होने का अनुमान किया जा सकता है। काग़ज़ मोटा, चिमड़ा, बादामी, हाथ का बनाया, देसी है, और स्याही देसी काली है। प्रति प्राचीन ज्ञात होती है।

इस बृहत्काय पुस्तक में इस्लाम धर्म से संबंध रखने वाली एक दर्जन से अधिक छोटी-बड़ी पुस्तकों का संग्रह है। इन में से एक भी पुस्तक किसी विदेशी भाषा, अर्थात् अरबी या फ़ारसी में नहीं है। सभी उत्तर भारत की भाषाओं में लिखी गई हैं। 'हिंदुस्तानी'

---

[1] देखिए 'हिंदुस्तानी', अप्रैल १९३८, पृष्ठ २१३ पर डाक्टर ताराचंद का 'हिंदुस्तानी' शीर्षक लेख।

भाषा में भी कुछ पुस्तकें हैं और तीन पुस्तकों के प्रारंभ और अंत में यह स्पष्ट निर्देष है कि वे 'हिंदुस्तानी' में हैं—

श्री प्रकास हिंदुस्तांनी किताब जंबूर शुरू हुई। (पृ० २४)
श्री प्रकास हिंदुस्तांनी भाषा में तमांम। (पृ० ५६)
श्री कलस हिंदुस्तांनी किताब तोरेत शुरू। (पृ० ६४)
श्री कलस हिंदुस्तांनी किताब तोरेत तमांम। (पृ० ८१)
सिंधी की हिंदुस्तांनी भाषा करी हे सो लिषी हे। (पृ० ३९९)
श्री किताब सिंधी को हिंदुस्तांनी सुधां तमांम। (पृ० ४०१)

यह सभी पुस्तकें पद्य में हैं, और इन से हमारी भाषा के व्याकरण का पूरा ढाँचा नहीं मिलता। हमारे मध्यकालीन पद्य में शब्दों के रूपों को विकृत करने का अभ्यास सर्वत्र दिखाई पड़ता है, और यह पुस्तकें भी उस का प्रतिवाद नहीं हैं। इस के अतिरिक्त हिंदुस्तानी के पद्य के उदाहरण हमारे मध्यकालीन साहित्य में सर्वथा दुर्लभ नहीं हैं, इस लिए प्रस्तुत निबंध में उन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया गया है। जो कुछ अलभ्य है वह है ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व का 'हिंदुस्तानी' गद्य। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के 'हिंदुस्तानी' गद्य का कोई भी प्रामाणिक उदाहरण अभी तक हमारे सामने कदाचित् नहीं था। फलतः यह हमारे लिए और भी प्रसन्नता की बात है कि प्रस्तुत प्रति हमारे सम्मुख ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के 'हिंदुस्तानी' गद्य का एक प्रामाणिक उदाहरण उपस्थित करती है। खेद इतना ही है कि यह अधिक नहीं है। फिर भी, जो कुछ है वह पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है। इस संग्रह में एक पुस्तक 'मारफत सागर' नाम की है। नीचे के दो गद्यांश क्रमशः उस के प्रारंभ और अंत के हैं। उन्हें म ज्यों का त्यों प्रति से ले कर उद्धृत करता हूं। उन का विषय इस्लाम से संबंध रखता है, इस लिए यह स्वाभाविक है कि उन में फ़ारसी, और विशेष कर के अरबी के, शब्दों का प्रयोग बहुतायत से हो, क्योंकि इस्लाम धर्म का दर्शनशास्त्र इन्हीं भाषाओं में है, फिर भी भाषा अर्थात् उस के व्याकरण का ढाँचा शुद्ध 'हिंदुस्तानी' है। इस के समझने में शायद कठिनाई न होगी। इन गद्यांशों को यथेष्ट रूप से समझने के लिए इन का आशय भी हिंदी में दे दिया गया है, और असाधारण अरबी-फ़ारसी के शब्दों का तत्सम रूप फ़ुटनोट में दे कर उन का अर्थ भी फ़ुटनोट में दिया गया है। विश्वास है कि इस से पाठकों को

सहायता मिलेगी। दोनों गद्यांश क्रमशः नीचे दिए जाते हैं—

प्रारंभ--श्री किताब मारफत[१] सागर ।। जो हक ताला[२] के हुकुम से पेदा हुई ।। हादी[३] के दिल पर आप बेठ कें बिगर हिजाब बारीक बातें चोपाईयां मोहों सें केहेवाई सो कलाम ज्यूं आवते गए त्यूं यारों नें लिखे ओर हादी फेर प्यार सों सुनते गए सो सुनके हुकम सें हाल[४] अपनें पर अरस बका लाहूती[५] का लेते गए ओर जामाना नाजुक होता गया सो ईहा ताई के आखर इस आलम नासूत[६] सेती कूच करके अपने रूहांनी आलम बका[७] वतन हमेसगी असली मिलाप के आराम पकड़ा ओर ए जो चोपाई जो नाजल[८] होती गई थी सो मसोदे ज्यूं के त्यूं ही रहे सो अब हक हादी के हुकम सें मोमिनों[९] ने इस के बाब बांधे हे माफक अपनी अकल के एपर जो चोपाई हादी नें फुरमाई थी तिनमें एक हरफ जादा या कम नहीं कीया अब मोमिन इस चोपाईयों के हरफ् हरफ् के माएनें मगज जाहिर के ओर बातुन के लेयृ कें हक के हुकम सें हादी के कदमों कदम धरेंगे किस वास्तें के मोमिन हादी के अंग नूर हें ओर नूर बिलंद से उतरे हें तो चढ़ना इनों को जरूर हे ओर अरस बका के पट हादी नें ईलम लुंदनी[१०] से षोल दिए हें आप हक नें नाजी[११] फिरके कों हिदाइत करकें निसबत मोमिन असल्तंन[१२] जो बीच अरस के हक हादी के कदम तले बेठे हैं सो दिषाए दई रूह की नजर सों जिनसों हक

---

१ معرفت ज्ञान (ब्रह्मज्ञान)

२ حق تعالیٰ परम सत्य-स्वरूप परमात्मा

३ هادی हिदायत करने वाला (हजरत मुहम्मद)

४ حال प्रभाव, रंग

५ عرش بقا لاهوتی کا सत्य अथवा शून्य-लोक का, अर्थात् परमात्मा की ज्योति का

६ عالم ناسوت मृत्युलोक

७ عالم بقا सत्यलोक

८ نازل هونا उतरना (प्रकट होना)

९ مومن इमान लाने वाले (मुसलमान)

१० علم لدنّی प्राकृतिक विद्या, (ब्रह्मविद्या)

११ ناجی निजात पाने का हक़दार (मुसलमान) (मोमिन)

१२ اصالتاً सशरीर

ताला ने बका षिलवत[१] बीच कोल अलस्तरबकुम का कीया[२] तब कालू बला[३] भी रूह मोमिनों की ने कह्या हे ओर कलाम अला[४] ओर हदीसों[५] ओर कैयों किताबों के बातुनी मगज माएनें हादी ने वारस मोमिनों को रूह की नजर षोल कें दिल हकीकी पर साहि-दीयों[६] सेती नकस कीया हे ओर दिल (को) अरस कह्या हे ओर ए दुनीयां मुरदार भी नजीक मोमिनों के हे तिस वास्तें जो हादी तुमको बुलावन आए थे सो पट बका का षोल के आगे सें केतेक यारों कों ले पधारें हे तब मोमिनों कों जरूर कदमों पर कदम धरना हे ॥

प्रारंभ—श्री ज्ञानसागर, जो परमात्मा की आज्ञा से निर्मित हुआ। हादी (हज़रत मुहम्मद) के दिल पर (परमात्मा ने) आप बैठ कर बिना कोई भेद रक्खे (ज्ञान की) सूक्ष्म बातें चौपाइयों (वाक्यों) के रूप में (उन के) मुँह से कहलाईं। वे वाक्य जिस प्रकार आते (प्रकट होते) रहे उसी प्रकार (हादी के) संगियों ने लिखे, और उन्हें हादी फिर प्यार से सुनते गए, और उन्हें सुन कर (परमात्मा की) आज्ञा से अपने ऊपर परमात्मा की ज्योति का प्रभाव लेते गए। और ज़माना नाज़ुक (बुरा) होता गया। यहां तक कि अंत में इस मृत्युलोक से कूच करके उन्हों ने अपनी आत्मा के लोक सत्यलोक़ में जा कर (अनंत के) वास्तविक मिलन का सुख प्राप्त किया, और जो ये वाक्य उतरते (प्रकट होते) गए थे वे सब मसविदों के रूप में ज्यों के त्यों रहे। उन्हें अब सच्चे हादी की आज्ञा से मोमिनों (मुसलमानों) ने अपनी बुद्धि के अनुसार अध्यायों में विभक्त कर लिया है, किंतु जो वाक्य हादी ने कहे थे उन में एक अक्षर भी कम या अधिक नहीं किया है। अब मोमिन इन वाक्यों के प्रत्येक अक्षर के प्रकट तथा अप्रकट आशय ले कर परमात्मा की आज्ञा से हादी के मार्ग का अनुसरण करेंगे, क्योंकि मोमिन हादी (परमात्मा) के अंग और उन के नूर (ज्योति) हैं, और ज्योति आकाश से उतरी है, इस लिए उस का (आकाश तक) चढ़ना भी निश्चित है,

---

[१] خلوت एकांत
[२] قول الست بربکم کا کیا कहा, 'क्या मैं तुम्हारा ख़ुदा नहीं हूँ' ?
[३] قالو بلی कहा 'बेशक'
[४] کلام اللّٰہ ईश्वर-वाक्य (क़ुरआन)
[५] حدیث हज़रत मुहम्मद के वाक्य
[६] तत्सम और आशय स्पष्ट नहीं हैं।

और सत्यलोक के परदे हादी ने ब्रह्मविद्या से खोल दिए हैं। स्वयं परमात्मा ने मोमिनों को हिदायत (उपदेश) कर के आत्मा की दृष्टि से ऐसे मोमिनों का संबंध दिखा दिया है, जो दिव्यलोक में परमात्मा के चरणों में सशरीर बैठे हैं। जिन से परमात्मा ने सत्यलोक के एकांत में कहा था, "क्या मैं तुम्हारा ख़ुदा नहीं हूँ", जिस का उत्तर मोमिनों की आत्माओं ने 'बेशक' कह कर दिया था, और क़ुरआन तथा हदीसों और कई एक पुस्तकों के आशय उत्तराधिकारी मोमिनों को उन की आत्मा की दृष्टि खोल कर उन के असली दिल पर शाहिदियों (?) से नक़्श कर दिया है, और उन के दिल को ही अपना (परमात्मा का) तख़्त कहा है। और मुसलमानों के नज़दीक़ यह दुनिया बेकार भी है, इस लिए, जो हादी तुम (मुसलमानों) को बुलाने आए थे वे सत्यलोक का परदा खोल कर कितने ही संगियों को ले कर पधारे हैं, इस लिए मोमिनों को उन के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है।

अंत--श्री श्री किताब मारफत सागर तमाम संपूरन।। बिनती।। जो हादी नें जुबान मुबारक सेती चोपाई एक हजार चोतीस फुरमाई थी सो य़ार मोमिनों ने इसके बाब चौदे माफक अकल अपनी के गम दिल सें बांध कर किताब तमांम करी अब भाई मोमिन इस चोपाइयों के हरफ् हरफ् के माएनें मगज जाहिर के ओर बातुन के रूह की नजर खोल कें लेएगें दिल अरस में ओर हक के बेसक ईलम नुंदनी सें विचारेंगे ओर फेल में ल्या-वेंगे तब ही हाल ले हादी के कदमों कदम धरेंगे किस वास्तें के आषर के मोमिन आकल हें ओर हिदाइत हक की लई हे सब बिधों कामिल हें जिनके दिल अरस में सुरत षुदाए की उगी हे ओर (कई) एक कलांम भी हादी ने मोमिनों को कहे हें तो हुकम से मोमिनों को जरूर सिर लें नालें तिस व़ास्तें जो कोई अरवाह[1] अरस अजीम[2] की होए ओर ईलम लुंदनी से जाग्रत हुई होए ओर हुकम मदत करे ओर हक हादी हिंमत देवें तो सुरत हक हादी के कदमों बांध के इस फांनी वजूद को उड़ावे ओर बीच अरस अजीम के उठ षड़ी होए ओर मिलाप हमेसगी का सुख लेवे हादी नें दरवाजा बका का षोल्या केतेक य़ारों को लेके आप अरस सिधारे ओर अपने जो तन हें तिनकों बुलावत हें ताकी साख चोपाई क्यामत-

---

[1] ارواح आत्माएं
[2] عرش عظیم बड़ा तख़्त (परमात्मा)

नामें[१] की ।। सुनत बिछोह हादी का साबित राखे पिंड। धिक धिक पाडो तिन अकलें वह नाही वतनी अषंड ।।१।। ओर आज हमारे हादी कों बीच परदे के हूए दो महीने ओर दस रोज हूए सो आज हमारे मेहेबूब[२] की सालगिरह का दिन हे याने जनम ओछव छहंतर मां तमांम हूआ पचहत्तर बरस ओर नो महीनें ओर बीस रोज इस फांनी के बीच हम गिरोर बांनी के वास्ते कै कसाले सेहे गुजरांन कीया और कै न्यामतें बका की इन रूहों के वास्तें जाहिर करी सो कहां लों लिषों बांनी में जाहिर लिष्या हे जो देखेगा तिनकी निसां[३] होएगी ।। सदी महंमद सलिला अलेहवसलंम[४] की अग्यारे से ओर छे महीना मोहोरंम तारीष सत्ताईसमी पेहेर दिन चढते ओर हिंदुई तारीष संवत १७५१ बरषें भादरवा बदि चौदस ।।१४।। बार गुरुउ पेहेर दिन चढते किताब मारफतसागर तमांम हूई हुकम हक हादी के सें चोपाई एक हजार चोतीस ।।१०३४।। मुकांम पटना लिषतं गिरोर बांनी की पाउंषाक हमेसां चाहत केसवदास को परनाम कोटानकोट दंडवत साथ सब कों अविधार[५] जो जी प्रीति की रीति से झाझां सनेह प्यार से अविधार जो जी ।।

अंत—श्री ज्ञानसागर संपूर्ण। निवेदन। हादी ने अपने मुख से जो एक हज़ार चौंतीस चौपाइयां (वाक्य) कही थीं उन्हें उन के संगी मोमिनों ने अपनी बुद्धि के अनुसार ध्यानपूर्वक चौदह अध्यायों में विभक्त कर पुस्तक समाप्त की। अब हमारे भाई मोमिन इन वाक्यों के प्रत्येक शब्द का प्रकट और अप्रकट आशय आत्मा की दृष्टि खोल कर लेंगे, और अपना हृदय परमात्मा में रखते हुए ब्रह्मविद्या के (नियमों के) अनुसार उन पर विचार करेंगे, और उन के अनुसार आचरण करेंगे, तभी (वस्तुतः परमात्मा के) प्रभाव में हादी के मार्ग का अनुसरण करेंगे, क्योंकि अंततः मोमिन बुद्धिमान् हैं, और उन्हों ने परमात्मा का उपदेश ग्रहण किया है, और सब प्रकार से योग्य हैं, जिन के हृदय पट में परमात्मा की स्मृति उगी हुई है। और (इस आशय के) (कई) एक वाक्य भी हादी ने मोमिनों

---

१ قیامت نامہ　वह पुस्तक जिस में (आने वाले) प्रलय के संबंध में लिखा गया हो

२ محبوب　प्यारे

३ نشاں　समर्थन

४ صلے اللہ علہ وسلم

५ तत्सम और आशय स्पष्ट नहीं हैं।

को कहे हैं, तो उन की आज्ञा से मोमिनों का यह कर्तव्य है, वे चाहे इसे अपना कर्तव्य समझें या न समझें। इस लिए जो कोई भी रूह परमात्मा की (उत्पन्न की हुई) हो, और ब्रह्मविद्या से जाग्रत हुई हो, और (परमात्मा की) आज्ञा उस के साथ हो, और परमात्मा उस को हिम्मत दे, वह अपनी स्मृति को परमात्मा के चरणों में लगा कर इस नाशवान् सत्ता को उड़ावे, और स्वतः परमात्मा के सम्मुख जा खड़ी हो, और अनंत मिलन का सुख लेवे। हादी ने सत्यलोक का दरवाज़ा खोला, और कितने ही संगियों को ले कर वे स्वतः सत्य-लोक को सिधारे, और अपने अंगों (अनुयायियों) को बुला रहे हैं, उस का साक्षी क़यामतनामे की यह चौपाई है, "सुनत बिछोह हादी का साबित राखे पिंड। धिक धिक पाड़ो तिन अकलें वह नाहीं वतनी अखंड॥" और आज हमारे हादी को अंतर्धान हुए दो महीने और दस दिन हुए, आज हमारे प्यारे (हज़रत मुहम्मद) की वर्षगांठ का दिन है, अर्थात् उन का जन्मोत्सव संसार भर में मनाया गया। पचहत्तर वर्ष नौ मास और बीस दिन (की अवस्था) तक इस मृत्युलोक में हम ने गुरु के उपदेशों (को बोलचाल की भाषा में करने ?) के लिए कितने कष्ट उठाए, दिन काटे, और कितनी ही न्यामतें (अच्छाइयां) परमात्मा की इन आत्माओं के लिए प्रकट कीं, वह कहां तक लिखूं, 'बानी' में स्पष्ट लिखा है, उसे जो भी देखेगा वही मेरी इस बात का समर्थन करेगा। (हज़रत मुहम्मद) की ग्यारहवीं शताब्दी, छठां महीना, अर्थात् मुहर्रम, और सत्ताईसवीं तारीख, पहर दिन चढ़ते, और हिंदुओं की मिती भाद्रपद वदि १४, संवत् १७५१, गुरुवार, पहर दिन चढ़ते, परमात्मा की आज्ञा से ज्ञानसागर नाम की यह पुस्तक समाप्त हुई। चौपाई १०३४। मुक़ाम पटना में यह पुस्तक लिखी गई। गुरु की बानी की चरणधूल मैं सदा चाहता हूं। केवशदास का प्रणाम करोड़ों दंडवत के साथ सब को दीजिएगा। प्रीति की रीति से तथा अनेक स्नेह तथा प्यार से दीजिएगा।

इन गद्यांशों की 'हिंदुस्तानी' में अरबी-फ़ारसी की शब्दावली का बाहुल्य तो प्रकट है, किंतु यह कम ध्यान देने योग्य नहीं है कि ठेठ हिंदी शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त हुआ है। नीचे लिखे हुए शब्द उदाहरण के लिए दिए जाते हैं—

श्री, सागर, पट, पधारे, संपूरन, बिनती, बिचारेंगे, धरेंगे, जाग्रत, सुरत, सिधारे, साख, बिछोह, पिंड, धिक-धिक पाड़ो, तिन, अखंड, जनम ओछव (जन्मोत्सव), छहंतर, कसाले, भादरवा (भाद्रपद), परनाम, कोटान कोट दंडवत, प्रीति की रीति, और सनेह।

लेख को समाप्त करते हुए केवल एक बात पर पाठकों का ध्यान मैं और आकर्षित करना चाहता हूं : 'हिंदुस्तानी' भाषा में इन पुस्तकों को लिखने का उद्देश्य बताते हुए लेखक लिखता है कि 'हिंद की बोली जादा प्यारी' (प्रति का पृ० ८२) होने के कारण तथा 'षातर हिंद के मुसलिमों के' (प्रति का पृ० ८२) लिखे जाने के कारण उस ने 'हिंदुस्तानी' का माध्यम ग्रहण किया है, किंतु क्या यह खेद का विषय नहीं है कि आज के हमारे मुसलमान भाई ठेठ हिंदी की शब्दावली और नागरी-लिपि से सर्वथा दूर रहने की चेष्टा करते हैं? विश्वास है कि वे इस सत्रहवीं सदी के लेखक का अनुकरण कर हिंदी की शब्दावली तथा देवनागरी लिपि को अधिकाधिक अपनावेंगे।

र्कर्षित
लेखक
षातर
ी' का
लमान
ी हैं ?
तथा

भौतिक संस्कृति में एशिया का स्थान

[लेखक—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, एम्०ए०, डी० एस्-सी० (लंदन)]

राष्ट्रीय इतिहास के पक्ष में जो हठ हैं; संसार के इतिहास का शीर्षक दे कर जो एकांगी रचनाएं की गई हैं; इतिहास के दर्शन का नाम दे कर जो कल्पनाएं प्रस्तुत की गई हैं; और इतिहास-निर्माण के लिए जिन कठिन शास्त्रीय और वैज्ञानिक उपादानों की आवश्यकता है—इन सभी बातों ने मिल कर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है कि शिक्षित और संस्कृत मनुष्यों के लिए भी यह दुर्लभ हो गया है कि सभी जातियों और लोगों ने सभ्यता को अग्रसर करने में जो भाग लिया है उस का समुचित ज्ञान प्राप्त कर सकें। सभ्यता किसी एक जाति या कुछ विशेष जातियों की देन नहीं है। यह सभी जातियों और लोगों के युग युग के सम्मिलित प्रयत्नों का परिणाम है। इन जातियों में एक सिरे पर आदिम मनुष्य और बर्बर कहलाने वाले लोग हैं, और दूसरी छोर पर यूरोप-अमरीका वाले।

सभ्यता की जड़ मनुष्य के इतिहास के धूमिल अतीत में मिलेगी। हमारी जानकारी जितनी ही बढ़ती है, उतना ही हमें मालूम होता है कि मानवी सभ्यता का प्रवाह एक शृंखलित और क्रमागत धारा की भाँति है, जिस का उद्गम हम प्रायः उस समय के निकट पाते हैं, जब मनुष्य बंदरों से बहुत भिन्न न था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के और विशेष कर बीसवीं सदी के विद्वानों की शोधों के परिणाम-स्वरूप यह जाना गया है कि हम अपनी सभ्यता के सभी मुख्य अंशों के लिए उन प्राचीनों के आभारी हैं जिन्हें आधुनिक पुरुष कृतघ्नता-पूर्वक "बर्बर" कह कर निर्दिष्ट करता है।

"बर्बर" आदमियों की देन को प्रस्तर-युग के लोगों ने आगे बढ़ाया, ऐसी खोजें कीं जिन्हों ने सभ्यता को अद्भुत रूप से अग्रसर किया। इस युग में लोगों ने अग्नि उत्पन्न करना जाना, बहुत से अस्त्र-शस्त्र बनाए, और उन कारीगरियों तथा आर्थिक संगठन की नींव डाली जो आधुनिक युग में औद्योगिक क्रांति (इंडस्ट्रियल रेवोल्यूशन) के समय तक

चलते रहे। उस पुराने युग में हमारी सभ्यता के दो मूल्यवान् अंगों—चित्रकला और मूर्तिकला—की सृष्टि हो चुकी थी। उस युग के इन दोनों कलाओं के अवशेषों ने अनेक विद्वानों को आश्चर्य में डाल दिया है, और इतिहास निरंतर उन्नतिगामी है, इस विषय पर संदेह तक उत्पन्न कर दिया है। इस युग के उत्तरार्ध में खेती, पशुपालन, वास्तुकला, यातायात साधन, मिट्टी के बर्तन बनाना, बुनाई और औषध-विद्या इन सब का ज्ञान पाया जाता है।

यहां तक कि इतिहास और संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले एक विद्वान् ने कहा है कि आदिम संस्कृति में "हमें सभ्यता के सभी अंश प्राप्त होते हैं, सिवाय लेखन-कला और राष्ट्र-संगठन के।" आर्थिक जीवन के अनेक प्रकार; राजनैतिक जीवन के मुख्य नियोग; नीतिशास्त्र के मूलतत्व; धर्मों के आधार; भाषा; साहित्य; कलाएं; विज्ञान यह सब हज़ारों वर्षों के कष्ट और प्रयोगों के परिणाम-स्वरूप प्रतिष्ठित हुए हैं। धातुओं, लेखन-कला, और राष्ट्र को छोड़ कर ऐतिहासिक सभ्यता के सभी आधार उस दूर अतीत के युग में निर्मित हो चुके थे।

प्रस्तर-युग के बाद एक परिवर्तन काल आया जिस में मनुष्यों ने ताँबा, काँसा और लोहा जैसी धातुओं की उपलब्धि की। इन उपलब्धियों के लिए किसी विशेष समूह को श्रेय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इस युग के अवशेष एशिया, यूरोप और अमरीका, के दूर-दूर स्थित प्रदेशों में पाए गए हैं। सभ्यता के एक मुख्य अंग अर्थात् लेखन-कला का सृजन हो चुका था। भूमध्य सागर की चिह्न-लिपि से आरंभ हो कर इस ने इलाम, सुमेर और मिश्र में चित्र-लिपि के रूप में विकास पाया; और अंततः यह २४ व्यंजनों की वर्ण-माला के रूप में लगभग ३००० ई० पू० में आई। इस का सब से पुराना उदाहरण सिनाई में सेरालित-एल-खादिम में मिलता है; जिस का काल-निर्णय सर विलियम हिंडर्स पेट्री ने लगभग २५०० ई० पू० किया है। लेखन-कला के विकास और धातुओं के उपयोग ने संस्कृति की गति को तेज़ किया।

पुरातत्व और इतिहास ने कुछ ऐसी संस्कृतियों को खोज निकाला है, जो लोप हो चुकी थीं, परंतु ऐसी और बहुत-सी संस्कृतियां हो सकती हैं, जो उन के क्षेत्र में आकर प्रकाश पाने से रह गईं। कौन बता सकता है कि धरती के कठोर तल के नीचे या समुद्र के भीतर कैसे-कैसे ख़ज़ाने छिपे हुए हैं, और क्रीट, सुमेर, यूकातन, मोहेंजो दड़ो आदि जैसी

कितनी खोजें भविष्य में हों! अफ़लातून से ले कर श्लीमैन तक "ऐटलांटिस" की सुधि जागृत रही है, और पोलिनीशिया की परंपरा अभी मनुष्य की स्मृति से विलग नहीं हुई है।

जब कि "वर्बर" कहलाने वाली जातियों और प्रस्तर तथा ताम्र युगों के लोगों ने संस्कृति के क्षेत्र में ऐसी ख़ासी वृद्धि की, तो यह आश्चर्य की बात नहीं, कि सब से बड़े महाद्वीप एशिया ने, मानवी सभ्यता को, जितनी कि हमारी जानकारी है, उस से अधिक समृद्धिशाली बनाया हो। सच बात तो यह है कि अब इस का अनुभव होने लगा है कि यूनान और रोम की संस्कृतियां, जिन्हें भ्रम से सर हेनरी मेन ने "आधुनिक विचारों का स्रोत" मान रक्खा था, स्वयं एशियायी सभ्यता पर आश्रित थीं, और मोटे ढंग से कहा जा सकता है कि एशियायी सभ्यता का प्रस्तार मात्र थीं। यद्यपि एशिया की प्राचीन सभ्यता का हमारा ज्ञान अपूर्ण बल्कि बहुत ही थोड़ा है, फिर भी वह इतना है कि हम उस के आधार पर अपने महाद्वीप की गौरवपूर्ण कृतियों का, कल्पना में एक ढाँचा बना सकते हैं, और मानवी संस्कृति तथा सभ्यता में उस के विशद भाग का अनुमान कर सकते हैं।

यह भली भाँति ज्ञात है कि संसार के चारों बड़े धर्म—बौद्धधर्म, हिंदूधर्म, ईसाईधर्म और इस्लाम—एशिया में ही उपजे हैं। उन की शक्ति और उपयोगिता को समय ने अच्छी तरह जाँच लिया है, और अरबों जनों की आस्था ने सिद्ध किया है। ईसा से पहले या बाद के यूरोप के इतिहास में इस वस्तुस्थिति का साम्य नहीं मिल सकता। इन धर्मों द्वारा एशिया ने, इतिहास के अंधतम युगों में, मानवता को, आशा का संदेश पहुँचाया है। इन धर्मों में चाहे जो त्रुटियां रही हों, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन्हों ने मानव-चरित्र को प्रतिष्ठित करने और उठाने में बड़ा भाग लिया है, और साथ ही सामाजिक भावना और व्यवस्था को उत्पन्न और दृढ़ करने में, और मनुष्य की वर्बरता को वश में रखने में बड़ी सहायता पहुँचाई है। इन्हों ने मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय के उच्चतम और महत्तम गुणों को विकसित किया है, और अगणित लोगों में भ्रातृभाव, सेवा और त्याग की भावनाएं उत्पन्न की हैं।

धर्म के साथ-साथ दर्शन, आचारशास्त्र तथा आख्यानों और कविता का चलन रहा। इन में से कुछ तो धर्मों के अंग थे, और कुछ उन से स्वतंत्र भी थे। इस दूसरे प्रकार के अंतर्गत में बुद्ध, कन्फ़्यूसियस, और अन्य चीनी विचारकों के आचार-संबंधी सिद्धांत गिनाएं

जा सकते हैं। उचित और अनुचित की भावना, व्यवस्था और संयम, सामाजिक न्याय, आचार, दया, दान और नैतिक सतर्कता के विचार यूनान और रोम में समाज के आरंभ होने से पहले ही उत्पन्न और पोषित हो चुके थे। आख्यानों ने मनुष्य की कल्पना को संपन्न बनाया था और कविता के लिए ऐसी प्रेरणा प्रदान की थी, जिस की बराबरी केवल प्रेम का भाव कर सकता था।

आर्थिक संगठन के क्षेत्र में और राजनीति में भी एशिया की देन महत्वपूर्ण रही है। सब से प्रमुख कार्य इस दिशा में हलों और पाटों का खेती के लिए उपयोग रहा है। मिश्र के इतिहास के ब्रेस्टेड और ईलियट स्मिथ जैसे विशेषज्ञों का कहना था कि हलों द्वारा खेती मिश्रवालों के यहां आरंभ हुई, लेकिन श्वीनफ़र्थ तथा अन्य आधुनिक लेखकों और शोधकों ने माना है कि यद्यपि खेती नवीन प्रस्तर-युग में आरंभ हो गई थी, परंतु बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हलों का उपयोग मिश्र से पहले सुमेर में हुआ, और मिश्र में इस ने उन्नति की। सुमेर वालों ने ४००० ई० पू० के लगभग अपनी प्रसिद्ध नहरों द्वारा खेती की और भी उन्नति की। पहियों वाली सब से प्राचीन गाड़ी का पता किश में लगा है, जिस से इस बात का अनुमान होता है कि स्थल-संबंधी यातायात का आरंभ सुमेर में ही हुआ। जल-मार्गों द्वारा यातायात उन्हें इस से पूर्व से ही ज्ञात था। सुमेरी सभ्यता को प्रेरणा सिंधु सभ्यता से प्राप्त हुई और संभव है कि इस का विशेष अध्ययन हज़ारों आश्चर्य प्रस्तुत करे और मेसोपोटामिया और मिश्र से उन अनेक बातों का श्रेय छीन ले जो उन्हें मिल रहा है।

सुमेर ने मूल्य के मान के रूप में सोने और चाँदी का व्यवहार आरंभ किया, पण या मुआहिदे की प्रथा चलाई, और उधार तथा साख को प्रचलन दिया। इन तीन बातों ने मानव-समाज के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किए, और उसे विकास की ओर अग्रसर किया। वस्तुतः आधुनिक आर्थिक संगठन प्रायः इन्हीं तीनों पर आश्रित है। इस के बाद बैबिलोनिया वाले आते हैं, जिन्हों ने यूनानियों द्वारा यूरोप को तौल और मानों से परिचित कराया, और आय-संबंधी एक व्यवस्था का विकास किया। सरकारी सिक्के का सब से प्राचीन उदाहरण हमें असीरिया में ७०० ई० पू० में मिलता है। सोने और चाँदी के अतिरिक्त वहां सीसा और ताँबा मुद्रा गढ़ने के काम में लाया जाता था। ईसा से पूर्व छठी सदी में, एशिया माइनर में लीडिया के राजा क्रोइसस ने बहुत सुंदर शैली

के सिक्के ढलवाए और उन के मूल्य के संबंध में सरकारी साख दी। यह जातीय मुद्रा-प्रथा का प्रथम नियमित उदाहरण है। फ़ारस के राजा दारा ने उस प्रथा का आरंभ किया जो आज कल द्विधातु-अनुपात ('बाइमेटलिज़्म') के नाम से ज्ञात है। फ़ारस ने ही बड़ी सड़कें बनवा कर और नदियों पर पुल बना कर यातायात साधन प्रस्तुत करने की दिशा में मौलिक योजनाएं कीं। हिंदुस्तान ने जो भाग लिया उस का यथार्थ अनुमान उस समय हो सकेगा जब कि सिंधु घाटी की सभ्यता के गौरव का पूरा-पूरा हाल हम जान लेंगे। मोहेंजो दड़ो में प्राप्त सिक्के अब तक ज्ञात सिक्कों में सब से पुराने हैं, ऐसा विश्वास किया जाता है। ऐसा विचार करने के कारण हैं कि पश्चिमी हिंदुस्तान और दक्षिणी फ़ारस में खुदाई हो तो अनेक अद्भुत परिणाम निकलेंगे और प्राचीन सभ्यता, संस्थाओं, और रहन-सहन के संबंध के अनेक सिद्धांतों में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ेगी। मौर्य-काल से पहले के और मौर्य-काल के प्राचीन भारतीयों ने व्यापारिक साख को बहुत उच्च कोटि तक पहुँचाया था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि हिंदुस्तान में ही पहले-पहल सोना खान से निकाला गया था। रुई की खेती हिंदुस्तान में ही सब से पहले आरंभ हुई। इस अद्भुत उपज ने आगे चल कर न केवल बुनने के व्यापार में वरन् आधुनिक संसार के समस्त व्यापारिक जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित किए। हिंदुस्तान कला-कौशल के प्रायः प्रत्येक विभाग में—जैसे लकड़ी का काम, हाथीदाँत का काम, धातु का काम, धुलाई, रंगसाज़ी, चमड़े का काम, साबुन बनाना, काँच फूँकना, बारूद, आतशबाज़ी, सिमेंट आदि के काम में--समस्त एशिया का अग्रणी रहा है। उस की व्यापारिक वस्तुओं की बड़ी प्रशंसा हुई है। अकेला रोम एक करोड़ ७० लाख रुपए मूल्य की वस्तुएं हिंदुस्तान से लेता था। यहां की वस्तुओं की माँग, अफ़्रीक़ा, दक्षिणी एशिया और चीन तक थी।

अठारहवीं सदी से पूर्व संसार का कोई देश ऐसा न था जहां कि व्यवसाय इतनी उन्नत दशा में रहा हो जैसा कि चीन का था। ईसा से कई शताब्दियों पहले रेशम का व्यवसाय वहां स्थिर रूप से चल रहा था। वहीं से सन् ५५२ ईस्वी में नेस्टोरियन लोग रेशम के कीड़ों के पालने की कला यूरोप में ले गए। विभिन्न व्यवसायों के अपने अलग-अलग संघ या श्रेणियां हिंदुस्तान की प्रथा के ही अनुकूल हुआ करती थीं। यह श्रेणियां व्यावसायिक संगठन की दृष्टि से स्वायत्त होती थीं। यह अपने नियम आप बनातीं, अपने अधिकार से इन नियमों को लागू करतीं, मालिक और मज़दूर के बीच न्याय करतीं, और यह न्याय

एक ऐसी समिति द्वारा शासित होता जिस के आधे सदस्य एक वर्ग के और आधे दूसरे वर्ग के होते।

सम्राट् हीन सुंग ने ९वीं सदी के आरंभ में ऋण के प्रमाणपत्रों का प्रचलन किया। १०वीं सदी के अंत तक इस ने जातीय काग़ज़ी मुद्रा का रूप ग्रहण कर लिया। यह नोट ब्लाक के छापे द्वारा बनाए जाते रहे। फ़ारस वालों ने १३वीं सदी के अंत तक चीनियों से काग़ज़ी मुद्रा का चलन ग्रहण कर लिया था। यूरोप में सन् १६५६ से पहले काग़ज़ी मुद्रा का प्रचार न हुआ। बारूद का व्यवहार जानने वाले सब से पहले लोगों में चीनी आते हैं। बारूद और क़ुतुबनुमा के व्यवहार ने (जो चीनियों को १२वीं सदी में भी ज्ञात था) युद्ध की कला, राजनीति, खोज और व्यापार के क्षेत्रों में क्रांति उपस्थित कर दी है। इसी प्रकार कोयले की प्राप्ति ने भी सभ्यता के विकास-क्रम में बड़ा साहाय्य दिया है। ईसा से दो शताब्दी पहले चीनियों ने कोयले को खान से निकाला और ईंधन के रूप में उस का व्यवहार किया।

यद्यपि मिश्र के लोग काग़ज़ और रोश्नाई का व्यवहार जानते थे, फिर भी इस बात का श्रेय चीन के त्साई-लुन को है कि उस ने (१०५ ईस्वी में) वृक्ष की छाल, चिथड़ों और सन से हलका और सस्ता काग़ज़ बनाने की रीति निकाली। चीनियों ने इस कला को प्रायः पूर्णता तक पहुँचा दिया था। उन से यह कला अरबों ने आठवीं सदी में सीखी, और वहां से यह तेरहवीं सदी में यूरोप में पहुँच पाई। काग़ज़ के अतिरिक्त रोश्नाई भी चीनियों ने कजली से तैयार की। ईसा से पूर्व तीसरी सदी में वह लाल रोश्नाई का उपयोग करते थे। चीनियों ने ही मुद्रण-कला का भी आविष्कार किया, और इस प्रकार उन्हों ने काग़ज़, रोश्नाई, और छापे का प्रेस प्रस्तुत करके मानो आधुनिक सभ्यता को उस का सब से बलशाली शस्त्र प्रदान करने का काम पूरा किया। उन्हों ने छपाई पहले पत्थरों से आरंभ की और छठी सदी में इस कार्य में लकड़ी का उपयोग किया।

राजनैतिक विचार तथा संगठन के क्षेत्र में एशिया की कृति ने उतनी ख्याति नहीं लाभ की है जितनी कि उसे औचित्य के साथ करनी चाहिए थी। एशिया की प्राचीन सभ्यताओं के संबंध में विशेषतः चीनी सभ्यता के संबंध में आधुनिक खोजों ने कुछ ऐसी बातों पर प्रकाश डाला है, जिन से यह सिद्ध होता है कि राजनैतिक विचार तथा संस्थाएं एशिया में विकास की उच्च अवस्था को पहुँच चुकी थीं, और यहां पर यूरोपीय राजनैतिक

दर्शन की पेशबंदी हो चुकी थी। वास्तव में अफ़लातून से ले कर रूसो तक, कदाचित् ही कोई ऐसा राजनैतिक विचार प्रस्तुत किया गया हो, जिस की पूर्वरेखा एशियायी विचारकों के यहां नहीं मिलती। क्या कुटुंब, क्या ग्राम और क्या बड़ा साम्राज्य, ऐसी शायद ही कोई संस्था हो जिस के विषय में यहां प्रयोग न किए गए हों। सुमेरी सभ्यता ने जो ईसा से २५०० वर्ष पूर्व भी पुरानी सभ्यता समझी जाती थी, पहला क़ानून का संग्रह प्रस्तुत किया था और पहले राज्य, बल्कि साम्राज्य स्थापित किए थे। बैबिलोनिया वालों को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उन्हों ने सुलैमान के जन्म और रोम की प्रसिद्ध "दस पट्टिकाओं" (टेन टैबलेट्स) से पूर्व ही विधान-संबंधी अपना महान् संग्रह प्रस्तुत किया था। हामूराबी (२१२३–२०८४ ई० पू०) ने अपने विधान-संग्रह की प्रस्तावना में आने वाले युगों के लिए यह अंकित कर दिया था कि शासन का उद्देश्य "बलशालियों द्वारा बलहीनों के दमन को रोकना, देश में ज्ञान-ज्योति फैलाना, और जनता के क्षेम के प्रयत्न करना" है। प्रांतीय तथा स्थानीय शासन की जो प्रथा असीरिया वालों ने चलाई वह फ़ारस होते हुए मैसिडोनिया तथा रोम में पहुँची। प्राचीन फ़ारस ने आनेवाली पीढ़ियों के लिए साम्राज्य-संगठन की दिशा में मार्ग-प्रदर्शन किया, और यह संगठन इतिहास के पृष्ठों में अत्यंत अद्भुत और सुयोग्य माना गया है। राजा; कुलीन मंत्रियों का मंडल; सात न्यायाधीशों का विशाल न्यायालय; स्थानीय न्यायालयों की शृंखला; क़ानूनी कार्य-संचालन के नियम; विधान का प्रवचन करने वाले वकील; सुव्यवस्थित प्रांतीय शासन-संगठन—यह सब देन फ़ारस वालों की, मैसिडोनिया तथा रोमवालों को रही है। इन लोगों ने धार्मिक सहिष्णुता के गुणों को भी जाना था। यह अपनी विस्तृत प्रजा के धर्म, आचरण, विधान, रीति-रिवाज, भाषा और मुद्रा तक की रक्षा किया करते थे। कितने ही विजित लोग अपने जातीय शासनों की अपेक्षा साम्राज्यकीय शासन को अधिक पसंद करते थे।

मेसोपोटामिया की राज्य-व्यवस्था में व्यक्ति-विशेष को राष्ट्र के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं प्राप्त थे। राष्ट्र-विषयक चिंतन में इस का समावेश नहीं हुआ था। परंतु जूडिया ने एक नया स्वर उठाया। अमास और इसाया ने धनवानों के विरुद्ध ग़रीबों का पक्ष लेकर घोर आंदोलन उठाया; यह समाजवाद का श्रीगणेश जैसा था। यहां पर सामाजिक चेतना एक निश्चित रूप ग्रहण करती है और ऐसी व्यवस्था की कल्पना करती है जब कि युद्ध अथवा ग़रीबी संसार की शांति और भ्रातृभाव को भंग न करेंगे।

हिंदुस्तान भी पिछड़ा हुआ नहीं था। उस का कार्य शासन-क्षेत्र में विविध श्रेणी-बद्ध विभागों का संस्थापन और स्थानीय शासन का विकास रहा है। इस पर प्राचीन यूनानी लेखक और आधुनिक इतिहासज्ञ समान-रूप से आश्चर्य में हैं। विसेंट स्मिथ महोदय तक को संदेह है कि यूनान के प्राचीन नगरों में इतनी सुंदर व्यवस्था रही हो। साम्राज्य-शासन का केंद्रीय संगठन, तथा नगरों और ग्रामों का संगठन पूर्ण और सफल था। फ़ारसियों की धार्मिक सहिष्णुता नीति का अंग थी; इसे अशोक ने धर्म का अंग माना और राजनीतिक सिद्धांत के रूप में प्रख्यापित किया। अशोक की शासक और सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठा संसार के इतिहास में अद्वितीय है। हिंदुस्तान ने ब्राह्मणों को जन्म और संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित कर के एक ऐसी कुलीन-सत्ता स्थापित की जिस के बराबरी की सत्ता इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती, कारण यह कि इस सत्ता का आधार संपत्ति, सैनिक अथवा राजनैतिक बल न था। यह सत्ता जितनी स्थायी सिद्ध हुई है उस का हमारा इतिहास साक्षी है।

राजनैतिक चिंतन में चीन का जितना बड़ा भाग रहा है, उतना कदाचित् किसी दूसरे एशियायी देश का नहीं रहा है। व्यावहारिक तथा राजनैतिक सदाचार के प्रश्न पर जितना विस्तृत और गहरा विचार इस "जीवित सभ्यताओं में से सब से प्राचीन और समृद्ध सभ्यता" ने किया है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ। उस ने जो शासन-व्यवस्था, सामाजिक संगठन, और सामाजिक नीतिशास्त्र विकसित किए वह इतिहास में अद्वितीय हैं। इसी बात से चीनियों को सामाजिक व्यवस्था के महान् निर्माण-कर्ताओं में समझना चाहिए। यों तो मनुष्य के कार्यों में—चाहे वह सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक हों—पूर्णता का दावा नहीं हो सकता; फिर भी प्रामाणिक आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि चीन ने एक आदर्श शासन-व्यवस्था का विकास किया था, जिस में कि जनतावाद और राजसत्ता का मधुर सम्मिश्रण था, जिस में शासन अपना भार शासितों पर कम से कम डालता था, और जिस के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति के लिए, वह चाहे जिस वर्ग अथवा पदवी का हो, उन्नति के समान अवसर प्राप्त थे। इस व्यवस्था के भीतर प्रत्येक ज़िले को राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से अपने क्षेत्र में स्वयं शासन के अधिकार प्राप्त थे। यह बात स्वीकृत है कि चाऊ-काल (११२२–२५५ ई० पू०) में चीन ने ऐसी सभ्यता संस्थापित कर ली थी, जिस की बराबरी संसार का कोई भी प्राचीन और संभवतः अर्वाचीन देश भी नहीं कर सकता।

चीनी लोग परमार्थ विद्या, धर्म, और अध्यात्म के चक्कर में नहीं थे। उन्हों ने अपने मस्तिष्क को उत्तम प्रकार के सामाजिक जीवन के लिए व्यवस्था उत्पन्न करने में और तर्कपूर्ण ढंग से सामाजिक और राजनैतिक सदाचार के निर्णय में लगाया। कन्फ़्यूसियस ने यह बताया था कि व्यक्तियों के गुणविशेष में कुटुंब की, और अंततः राष्ट्र और साम्राज्य की दृढ़ता निहित है। उस ने संसार की एक विराट् जनसत्ता के रूप में कल्पना की थी, जिस का उद्देश्य जगद्-व्यापी शांति की स्थापना था, और जिस में शक्ति जनता के चुने हुए "गुणी, धार्मिक और योग्यता वाले" प्रतिनिधियों के हाथों में थी। उस की कल्पना के राज्य में बच्चों की यत्नपूर्ण और कोमल देखरेख का, युवकों तथा प्रौढ़ों के लिए धंधों का, और वृद्धों के उचित संरक्षण का प्रयत्न था। मो-ती भी इसी परिणाम पर पहुँचा था कि सामाजिक (जिस में राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों ही अंग सम्मिलित हैं) समस्या का हल एकमात्र विश्वव्यापक प्रेम में है। यह एक ऐसी योजना थी जो चीनियों के विचारों में हून-वंश के उदयकाल (३री सदी ई० पू०) से बराबर मौजूद थी, और जिस ने सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं पर अद्वितीय प्रभाव डाला था।

कन्फ़्यूसियस के मत का आधार लेकर चीनियों ने अपने विचारों का प्रचार किया। यह विचार उस समय प्रायः वही काम करते थे, जो आधुनिक जगत में समाजवादी विचार। कन्फ़्यूसियस के विचारों का विरोध हुआ, उन पर आपत्ति की गई, परंतु यदि अपने मौलिक रूप में नहीं तो साररूप में वह विजयी सिद्ध हुए। मेन्सियस (३७२–२८९ ई० पू०) ने बताया कि जनतावाद की सफलता की कुंजी व्यापक शिक्षा में है और अशिक्षितों की प्रजा-सत्ता एक दुर्भाग्य की वस्तु होगी। यद्यपि उस ने प्रजा के क्रांति के अधिकार को स्वीकार किया, परंतु जब सी-सिंग ने यह दावा किया कि प्रजावर्ग का शासन होना चाहिए तो उस ने इस का विरोध किया।

हॉब्स और रूसो द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों पर ईसा से प्रायः चार सदी पहले ही चीनी विचारकों ने विचार कर लिया था। मेन्सियस (३७२–२८९ ई० पू०) का विश्वास था कि मनुष्य-प्रकृति अपने साररूप में भली है, इस के विपक्ष में हीन-ज़ी (मृत्यु २७५ ई० पू०) ने दृढ़ता-पूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मनुष्य-प्रकृति स्वभावतः दुष्ट है। चीनी दार्शनिकों ने प्रकृति के नियमों पर गहरा चिंतन किया था, और धर्मस्वरूप ताओ पर आस्था लाए थे। फिर तो "प्रकृति की ओर लौटो" इस का स्वर चीनी विचार-प्रवाह

में आया, और चुंग-जी (जन्म ३७० ई० पू०) ने यंत्रों, संपत्ति और सोना तथा मोतियों पर अधिकार के विरुद्ध शांतिपूर्ण प्रचार-कार्य किया।

सब से बड़े हुन-वंशी सम्राट् वू-ती (१४०–८७ ई० पू०) ने समाजवाद के पक्ष में साहसी प्रयोग किए, और प्राकृतिक संपत्ति पर राष्ट्रीय अधिकार, और राष्ट्र-नियमित यातायात तथा विनिमय स्थापित किए, व्यापार पर नियंत्रण लगाए और वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किए, इस प्रकार दलाली या बीचवालों के नफ़े को उस ने काट दिया, साथ ही उस ने बेकारों को धंधे बताए। यह साहसी प्रयोग ठीक-ठीक जड़ पकड़े इस से पहले ही कुछ दैवी बाधाओं, जैसे बाढ़ और अनावृष्टि के कारण यह टूट गया। फिर भी जो विचार और कल्पनाएं प्रचलित हुईं वह बनी रह गईं। सुंग-वंश ने उन्हें ग्रहण किया और उस वंश की सेवा करने वाले एक बड़े मंत्री वंग-आन् शिप् (१०२०–८६ ई०) ने वाणिज्य-व्यापार तथा खेती का प्रबंध राष्ट्र के नियंत्रण में लाने का प्रयत्न किया। उस ने बुड्ढों, बेकारों तथा ग़रीबों के लिए गुज़ारे बाँध दिए। इस बार भी अनेक कारणों से प्रयोग सफल न हो सका।

चीनी व्यवस्था का एक मुख्य कार्य सरकारी नौकरियों के लिए परीक्षा-प्रथा का प्रचलन करना भी था। परीक्षा-प्रथा और अधिकारियों का चुनाव चीनी युक्ति और सूझ-बूझ के उदाहरण हैं। यह क्रम हुन-वंश (३री सदी ई० पू०) में आरंभ हुआ, और त'-अंग-वंश (६१८–९०५ ई०) के समय में पूर्णतया स्थापित हुआ। इस परीक्षा-प्रथा का उद्देश्य ज्ञान की जाँच करना नहीं था, वरन् परीक्षार्थी के विवेक और चरित्र की जाँच करना। धर्म अथवा राजकीय समर्थन से यह प्रथा स्वतंत्र थी।

सब से अंत में यह भी जान लेना चाहिए कि राजनैतिक संगठन और विकास में जापान की क्या देन रही है। यह देन किसी प्रकार हेय नहीं ठहराई जा सकती। चीनियों जैसी जापान की राज्य-व्यवस्था नहीं थी। जापान में सामंतशाही का विकास हुआ था। सोलहवीं सदी में ईएयासु नाम के तानाशाह ने जापान में सामंतशाही व्यवस्था को ऐसा संगठित किया कि यह संसार की सब से व्यवस्थित सामंतशाही कहलाई है। जापानी सामंत-शासित समाज का मूल आधार इस बात पर था कि "प्रत्येक भद्र पुरुष सैनिक था, और प्रत्येक सैनिक भद्र पुरुष।" "सामूराइ" खड्गधारी जापानी सामंत-प्रथा के सब से मनोरंजक अंग थे। उन की आन के नियम (बुशिदो), उन का आर्थिक लाभ का तिरस्कार,

तथा कठिन और मितव्ययी जीवन, उन की सहन-शक्ति, उन की दृढ़ राजभक्ति और दृढ़ प्रतिज्ञा-पूर्ति, उन की निर्भीकता—इन बातों ने मिल कर राज्य के हितैषी ऐसे सेवक उत्पन्न किए जिन की बराबरी बैबिलन, स्पार्टा, और रोम के तथा राजपूत सैनिक भी नहीं कर सकते थे। इस जीवट के लोगों ने सामंतकालीन युग में जापान को सुदृढ़ बनाया, और हमारे समय में भी, उन के द्वारा ही जापान उन्नत हो कर एशियायी महाद्वीप के देशों में अग्रणी बना है।

जिस वेग से जापान ने अपने को आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं के लिए तैयार किया है, और संगठन की योग्यता राजनैतिक, सैनिक, और आर्थिक क्षेत्रों में समान-रूप से दिखाई है, उसे देख कर आश्चर्य होता है, और सारे संसार के लिए नीतिपाठ प्रस्तुत करता है। जब कि जापान ऐसे छोटे राष्ट्र ने इतने थोड़े समय में यूरोप के मुक़ाबले में अपना सिक्का पूर्व में जमा लिया, तब चीन और हिंदुस्तान के जाग्रत होने पर सहज में अनुमान किया जा सकता है कि आधुनिक सभ्यता की सारी रूपरेखा बदल सकती है—उसी प्रकार जिस प्रकार कि इंडस्ट्रियल क्रांति ने यूरोप की रूपरेखा बदल दी थी।

महायान संप्रदाय का क्रमिक विकास

[लेखक--पंडित परशुराम चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

(१)

विषय-प्रवेश

बौद्ध धर्म, संसार के लिए, भारतवर्ष की एक बहुत बड़ी देन है, और उस का उदय भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। उस के प्रवर्त्तक ने, सर्वप्रथम, कदाचित्, प्रचलित वैदिक धर्म की कतिपय विकृत रुढ़ियों को दूर कर, उस के शुद्ध व सुधरे रूप को ही प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया था, और उस का उपदेश भी, वास्तव में, औपनिषदिक सिद्धांतों का ही परिणाम-स्वरूप था। अतएव, आत्मा व परमात्मा को एक समझने वाले उपनिषत्कार, वासनाक्षयपूर्वक मन को निर्विषय कर अटल शांति लाभ करने की जिस अवस्था को 'ब्रह्मनिर्वाण' की आधार-दर्शक संज्ञा देते थे, उसे ही गौतमबुद्ध ने, अनात्मवादी हो कर भी, केवल 'निर्वाण' के क्रिया-दर्शक नाम से अभिहित किया था;[१] और पवित्र नैतिक जीवन को, देवताओं तक के समाज के लिए आदर्श निश्चित कर दिया था। उस के अनुयायियों का समूह, इसी कारण, उस के नाम शाक्यसिंह के अनुसार, आरंभ में, 'शाक्यपुत्रीय श्रमण' मात्र कहला कर ही प्रचलित हुआ[२]। किंतु, आगे चल कर, इस आंदोलन ने धार्मिक विप्लव का रूप धारण कर लिया और भारतीय समाज में एक प्रकार की नवीन स्फूर्ति संचारित कर दी। फिर तो समय-समय पर सहायता पाकर धीरे-धीरे यह दूर-दूर के देशों में भी फैलने लगा और इस की विचारधारा का एक प्रमुख अंश, परिस्थितियों के बहुमुखी प्रवाह में पड़ कर क्रमशः विकसित होता हुआ, महायान संप्रदाय के रूप में परिणत हो गया। फलतः बौद्धधर्मी लोगों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई, और प्रायः आठ नव सौ वर्षों के ही भीतर, उस के

---

[१] तिलक, 'गीतारहस्य', प्रथम हिंदी संस्करण, पृ० ५७५

[२] रमेशचंद्र दत्त, 'सिविलिज़ेशन इन एंश्येंट इंडिया', भाग १, पृ० ३०८

मानने वालों में, भूमंडल के आधे से अधिक मनुष्य सम्मिलित हो गए। किंतु महायान संप्रदाय, उस समय तक, मूल बौद्ध धर्म को हीनयान ठहरा कर, उसे अपने जन्मस्थान से अलग कर चुका था, और स्वयं अपने सिद्धांतों को अधिक से अधिक व्यापक बनाता हुआ, सब कहीं लोकप्रिय होने का भी प्रयत्न कर रहा था। अतएव, अपने मूल स्थान पर प्रचलित हिंदू धर्म में धीरे-धीरे अंतर्लीन होते जाने के कारण, अंत में, उसे भी विदेशों में ही गौरव का स्थान मिला। महायान संप्रदाय की उत्पत्ति और उस के क्रमिक विकास की कहानी, इस प्रकार, हमारे धार्मिक इतिहास का एक मनोरंजक व शिक्षाप्रद अध्याय है, जिस का, नीचे की कुछ पंक्तियों द्वारा, केवल सारांश मात्र देने की चेष्टा की जायगी।

आज से बहुत दिनों पहले, नेपाल राज्य की दक्षिणी सीमा पर, एक शाक्यवंशी जनपद बसा हुआ था, जिस के शासक शुद्धोदन की राजधानी कपिलवस्तु नगरी थी।

गौतम बुद्ध—गृहत्याग व बुद्धत्व प्राप्ति

शुद्धोदन की आयु के ४५ वें वर्ष में, उन की रानी मायादेवी के गर्भ से, जब वह प्रसव-काल को समीप जान कर प्रथानुसार अपने मायके देवदह जा रही थी, तो मार्गस्थ लुंबिनी वन के शालवृक्षों की छाया में, एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसे सिद्धार्थ नाम दिया गया। माता, प्रसवपीड़ा के कारण, एक सप्ताह के भीतर ही मर गई और बच्चे का लालन-पालन उस की विमाता प्रजापति गौतमी ने किया। सिद्धार्थ बचपन से ही एक चिंताशील व एकांत-प्रेमी बालक था, इस कारण, उस की उदासीनता से भयभीत हो, राजा शुद्धोदन ने उस का विवाह यशोधरा नाम की किसी कोलिय कुमारी के साथ करा दिया और दोनों की विलासिता के लिए, सभी भाँति के सामान भी सजा दिए। किंतु उस युवक को किसी प्रकार की विलासप्रियता न बहका सकी और भ्रमण करते समय दिखाई पड़ने वाले किन्हीं वृद्ध, रोगी, मृतक व प्रसन्न-मुख संन्यासी की विविध अवस्थाओं पर पूर्वापर विचार करने के कारण, वह और भी विरक्त हो गया, तथा एक दिन, २८ वर्ष की युवावस्था में, केवल एक सप्ताह के दुधमुँहे बच्चे राहुल को गोद में लेकर सोई हुई अपनी पत्नी तथा एक समृद्ध राजसी जीवन का परित्याग कर, वह रात को अचानक चल निकला। उस समय उस का हृदय अत्यंत क्षुब्ध था और अनेक प्रकार के गंभीर विचार उस के मस्तिष्क में उठ रहे थे, अतएव, बेचैनी का सताया राजकुमार, एक अकिंचन की भाँति, इधर-उधर भटकने लगा, और मल्लों के देश, मगध की राजधानी राजगृह आदि में घूमते हुए, अनेक प्रकांड विद्वान् व

कर्मकांडी पंडितों से भेंट कर, उस ने अपनी गहरी प्यास बुझानी चाही; तथा कुछ काल तक आराड़ कालाम व उद्दक जैसे नामी सांख्य के आचार्य एवं राजगृह के रुद्रक जैसे नास्तिकों से वह शिक्षा भी ग्रहण करता रहा। किंतु अभीष्ट सफलता उसे कहीं भी न मिली। इस कारण, गया के पहाड़ी जंगलों में नैरंजरा नदी के किनारे जाकर, उस ने उरुवेल नामक स्थान पर प्रायः छः वर्षों तक घोर तपस्या की, जिस से उस का शरीर अत्यंत दुर्बल हो गया, और क्षुत्पिपासा द्वारा निर्बल हो कुछ अवसर तक बेसुध हो जाने पर, उसे अपने साथियों तक ने त्याग दिया। परंतु उस का निश्चय दृढ़ था और उस की प्रबल आशावादिता, अंत में, उसे अमरबोधि के नीचे बुद्धत्व प्राप्त कराने में समर्थ हो गई, और उसे, प्रकाश के एक ही आलोक में, अचल शांति का साम्राज्य मिल गया।

मत-प्रचार व परिनिर्वाण

महात्मा बुद्ध ने, अपने लक्ष्य में सिद्धि प्राप्त कर, काशी की ओर प्रस्थान किया, और वहां मृगदाव (वर्तमान सारनाथ) में जा कर, सर्वप्रथम अपने 'धम्म-चक्क-पवत्तन' की शिक्षा कौंडिण्य, वप्प, भद्दिय, महानामन व अस्सजि नामी पाँच शिष्यों को दे कर, उन्हें प्रचारार्थ इधर-उधर भेज दिया, तथा स्वयं भी उपदेश देते हुए वे पुनः उरुवेल चले गए। इस समय तक उन के शिष्यों की संख्या ६० तक हो चली थी और, उरुवेल पहुँच कर, उन्हों ने काश्यप नामी प्रसिद्ध कर्मकांडी विद्वान् को भी दीक्षित कर लिया, तथा उसे साथ ले, मगध की राजधानी राजगृह जा कर, वहां के महाराज बिंबसार एवं सारिपुत्त, मोग्गलान आदि को भी अपने अनुयायियों में सम्मिलित किया। इसी प्रकार, कोशल की राजधानी श्रावस्ती पहुँच कर उन्हों ने महाराज प्रसेनजित् को भी उपदेश दिए और उन के जेतवन में वे बहुत दिनों तक ठहरे भी रहे। फिर तो, अपने बुद्धत्व के बारहवें वर्ष तक, उन्हों ने अपने पिता शुद्धोदन, पुत्र राहुल, एवं आनंद, आदि जैसे स्वजन तथा अनिरुद्ध, उपलि आदिक अन्य लोगों को भी अपने धर्म में सन्निविष्ट कर लिया, जिस से उन की ख्याति और भी बढ़ चली और शिष्यों की संख्या सैकड़ों तक पहुँच गई। इस कारण उन का प्रचारकार्य अब अधिकतर तीन मुख्य केंद्र अर्थात् राजगृह, काशी और श्रावस्ती से ही होने लगा, और अन्य कई स्थानों पर, उन के तथा उन के अनुयायियों के वर्षावास के लिए, वासगृह निश्चित हो गए जहां वे, सब के साथ एक समान पैदल घूमते हुए पहुँचते और एकत्रित जनता की ज्ञान-पिपासा दूर करने का प्रयत्न किया करते। उन के इस कार्य में जैनों, ब्राह्मणों एवं देवदत्त जैसे कतिपय

स्वजनों तक ने भी कई बार बाधा पहुँचानी चाही, किंतु इस से वे कभी विचलित नहीं हुए, और उन का संदेश धीरे-धीरे कम से कम, शाक्यवंशियों के लिए तो, अपना जातीय धर्म हो चला। उन के अनुयायियों में अंगुलिमाल डाकू जैसे निम्न श्रेणी के लोग तथा पुरुषों के ही समान, प्रजापति गौतमी, यशोधरा, आदि स्त्रियां भी सम्मिलित होती रहीं। अतएव, एक बार, पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिकाग्राम होते हुए, जिस समय वे वज्जियों की राजधानी वैशाली पहुँचे, और वहां के एक आम्रवन में ठहरे तो, उस की मालकिन अंबापाली वेश्या तक, उन के प्रभाव में आ कर, उन की शिष्या हो गई। अंत में, पावाग्राम-निवासी चुंद सुनार के घर तैयार किए गए, 'सूकर मद्दव' नामी कोई भोज्य पदार्थ खा लेने पर, उन्हें प्राणघातक रोग ने आ घेरा और कुशीनगर के निकटवर्ती मल्लों के शालवन में उन का, ८० वर्ष की अवस्था में, परिनिर्वाण हो गया।

प्रमाण-ग्रंथ, काल-निर्णय व उपदेश-प्रणाली

महात्मा गौतमबुद्ध के जीवनकाल व चरित की घटनाओं के आधारस्वरूप ग्रंथों में 'ललितविस्तर', 'बुद्धचरित', 'परिनिव्वाणसुत्त', एवं 'महावग्ग' आदि मुख्य समझे जाते हैं, और इन में से भी पहले में, उन के तुषित स्वर्ग की पूर्व-कथाओं से ले कर, केवल धम्म-चक्क-पवत्तन-काल तक तथा दूसरे में, बुद्धत्व प्राप्ति के अनंतर आठवें वर्ष में उन के कपिलवस्तु की ओर लौटने तक के ही वृत्तांत दिए हैं। इसी प्रकार तीसरे में उन के अंतिम समय के प्रायः तीन महीनों की घटनाएं वर्णित हैं, तथा चौथे में उन के विषय की बहुत सी फुटकर बातें संगृहीत हैं। इस के सिवाय सिंहल के प्रसिद्ध 'महावंश' ग्रंथ से पता चलता है कि उन का 'परिनिव्वाण' ईसा से ५४३ वर्ष पूर्व हुआ था, जिस के अनुसार उन का जन्मकाल ८० वर्ष और भी पहले, अर्थात् ६२३ ई० पू० में मानना चाहिए। परंतु कुछ प्राच्यविद्या के पंडितों ने, इस की गणना-पद्धति में किन्हीं अशुद्धियों का अनुमान कर, परिनिर्वाणकाल को ६६ वर्ष इधर अर्थात् ४७७ ई० पू० तक हटा दिया, और चीन देश के कैंटन में पाए गए किसी प्रमाण के आधार पर, वे लोग अब उस का ४८६ ई० पू० में ही होना निश्चित करते हैं।[1] महात्मा बुद्ध का जन्म, इस प्रकार अंतिम निर्णय के अनुसार, ५६६ वर्ष ई० पू० में हुआ था। २८ वें वर्ष में उन्होंने घर छोड़ा था। छः वर्षों तक शांतिप्राप्ति के लिए कई

---

[1] हरप्रसाद शास्त्री, 'अद्वयवज्रसंग्रह', भूमिका, पृ० १६

प्रयत्न किए थे, तथा ३५ वर्ष की अवस्था में बुद्धत्व प्राप्त कर, उस के अनंतर ४५ वर्षों तक वे अपने सिद्धांतों का प्रचार करते रहे। इस के सिवाय, प्राप्त प्रमाणों के आधार पर, यह भी पता चलता है कि उन की नित्यचर्या में उषःकाल का उठना, ध्यान का अभ्यास करना, अपने शिष्यों के साथ धर्मचर्चा करना, करवा हाथ में लिए घर-घर घूम कर मौन वेश में भिक्षा माँगना, सब के साथ व एक ही समान केवल एक बार भोजन करना, आदि बातें सम्मिलित थीं, और उन के उपदेश का क्रम यह था कि वे उपस्थित जनता के सामनें, सर्व-प्रथम, लोगों में प्रचलित विचार-परंपरा की आलोचना करते, उस की भिन्न-भिन्न त्रुटियां दिखलाते हुए, उसे वास्तविक समस्याओं के सुलझाने में असमर्थ ठहराते, और अंत में, अनेक युक्तियों द्वारा, अपने मुख्य-मुख्य सिद्धांतों का दिग्दर्शन करा कर उन्हें हृदयंगम करा देने की चेष्टा किया करते। अपने शिष्यों के साथ गंभीर विषयों पर विचार करने के साथ ही वे उन के दैनिक व्यवहार की छोटी-छोटी बातों तक में भी बहुधा परामर्श दिया करते थे, और इस प्रकार, उन की दैनिक कार्यपद्धति, मानव-जीवन की पूर्णता को लक्ष्य कर, बराबर चला करती थी।

क्षणिकवाद

'बुद्धचरित' के रचयिता आचार्य अश्वघोष ने लिखा है कि आराड़ कालाम व उद्दक ने अपने शिष्य शाक्यसिंह गौतम को, कापिल-सांख्य के अनुसार, अष्ट प्रकृति, षोड़श विकार एवं 'पुरुष' के विषय में शिक्षा दी थी और आत्मा का, निम्नतम प्राणियों से लेकर कामधातु वा इच्छा-जगत एवं रूपधातु वा मूर्तिमान् जगत द्वारा होते हुए, अरूपधातु वा प्रकाश जगत की ओर क्रमशः विकसित होता जाना दर्शाया था। आराड़ कालाम ने, इस के साथ ही, यह भी बतलाया था कि अरूप वा प्रकाश जगत में निराकार आत्मा की अवस्था दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों की होती है, जिन्हें क्रमशः 'आकाशांत्यायतन' वा आकाशवत् असीम, एवं 'अकिंचन्या-त्यायतन' वा ज्ञानवत् असीम कह सकते हैं, और इसी प्रकार, उद्दक ने भी इन्हें इन दोनों से ऊपर की एक तीसरी श्रेणी की अवस्था का भी परिचय दिया था, जहां पहुँच कर निराकार आत्मा 'नैवसंज्ञा न संज्ञानंतायतन' अथवा पूर्ण अनामी की स्थिति प्राप्त कर लेती है और उस दशा में नाम असीमता तक का भी नहीं लिया जा सकता। इस अंतिम श्रेणी तक जा कर ही आत्मा 'केवली' वा पूर्ण निरपेक्ष कहलाने योग्य होती है, और इस दशा में ही उस का, सापेक्ष्य संसार के साथ, कोई संबंध नहीं रह जाता। परंतु जिज्ञासु गौतम को इन बातों से पूर्ण

संतोष नहीं हुआ, और उन्हों ने सोचा कि यदि आत्मा का अस्तित्व मान लिया जाय तो उसे किसी न किसी वस्तु द्वारा अपेक्षित भी समझना ही पड़ेगा। वह निरपेक्ष नहीं रह सकती। अतएव उन्हों ने गुरुओं की शिक्षा से अभीष्टप्राप्ति की आशा छोड़ दी और स्वावलंबन पर ही विश्वास किया। सांख्यदर्शन के आधारस्वरूप 'सत्कार्यवाद' के अनुसार, इसी प्रकार कार्य का कारण के अंतर्गत बीजरूप से विद्यमान रहना आवश्यक है, अतएव कार्य व कारण अर्थात् दोनों का स्थायी होना भी अनिवार्य है। परंतु बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर, गौतम बुद्ध को किसी भी स्थायी कारण वा कार्य का अस्तित्व मान्य न हुआ और वे सभी पदार्थ, यहां तक कि आत्मा को भी क्षणिक ही समझने लगे। इस कारण, सत्कार्यवाद के स्थान पर, उन्हों ने अपने 'क्षणिकवाद' का प्रचार आरंभ किया, जिस के अनुसार आत्मा की अंतिम अवस्था में, न तो कोई 'संज्ञा' वा नाम रहता है, और न किसी 'संज्ञि' वा नामधारी का ही अस्तित्व माना जा सकता है। महात्मा गौतम बुद्ध की दृष्टि में, इस प्रकार, सारा जगत (अंतर्जगत व वहिर्जगत इन दोनों रूपों में ही) एक अनंत प्रवाह की दशा में सदा बदलता रहता है, और वैसी स्थिति में, आत्मा को निरपेक्ष मानना भी असंगत नहीं।[1]

वैदिक धर्म, आरंभ में, अधिकतर यज्ञादि के अनुष्ठानों द्वारा देवताओं को प्रसन्न-कर उन की सहायता से, एक सुखमय जीवन व्यतीत करने तक ही सीमित था, किंतु

अंतिम ध्येय

उपनिषदों में, दार्शनिक विवेचन की पद्धति से जीवात्मा को परमात्मा से प्रकट हुआ मान कर, यों विचार किया गया था कि कर्मों के प्रभाव में आकर जब हमें भवचक्र के नियमानुसार, जन्मांतर ग्रहण करना पड़ता है, तो यह निश्चय है कि उन दोनों की अभिन्नता के शुद्ध ज्ञान द्वारा ही पार्थिव जीवन से छुटकारा मिलेगा। महात्मा गौतम बुद्ध ने इन में से वैदिक देवताओं, उन के स्वर्ग पाता-लादि तथा विविध कथाओं तक को तो एक प्रकार से मान लिया और अपने ढंग से, कर्म-वाद व जन्मांतर को भी स्वीकार कर लिया, किंतु आत्मा के अनादित्व में अविश्वास प्रकट कर उन्हों ने परमात्मा के विषय को भी संदिग्ध ही छोड़ दिया। उन के सामने जो समस्या थी उस के सुलझाने के लिए दार्शनिक विवेचन अनावश्यक जँचता था, और अपने

---

[1] **हरप्रसाद शास्त्री, 'अद्वयवज्रसंग्रह', भूमिका, पृ० १५–१६**

शिष्य मलंख के तत्वज्ञान-संबंधी प्रश्न छेड़ने पर, उन्हों ने, इसी कारण, स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि जो व्यक्ति अग्नि की ज्वाला से दग्ध हो रहा हो, उस का पहले अग्निकुंड से बाहर आना और विषैले वाणों से विद्ध व्यक्ति के शरीर से पहले तीरों का निकाला जाना अत्यंत आवश्यक है, और ऐसे अवसरों पर इस का निर्णय करने लगना निरी मूर्खता है कि पहला आग से कैसी दशा में निकलेगा अथवा दूसरे के शरीर में घुसे हुए वाणों की रचना किस प्रकार की होगी।[1] उन्हों ने, वास्तव में, संसार के जीवन को दुःखमय पाया था और वे पहले इसी विचार में अधिक संलग्न थे कि किस प्रकार प्राणिमात्र के कष्ट दूर किए जायँ। अतएव, अपने शिष्यों को उपदेश देते समय, उन्हों ने उस समय केवल इतना ही कहा कि तुम केवल चार 'आर्यसत्यों' को भलीभाँति समझ लो और आठ 'आर्य अष्टांगिक मार्गों' का अनुसरण करो क्योंकि, पहले द्वारा, उन की समस्या का पूर्णतः ज्ञान हो जाना संभव था, और दूसरे द्वारा, भोग-विलास तथा तपस्या, दोनों की सीमाओं को त्याग कर, उसे दूर करने की चेष्टा की जा सकती थी। उन का ध्येय मनुष्य एवं परमेश्वर के बीच संबंध का निर्णय कर दार्शनिकता के फेर में पड़ना नहीं था, बल्कि वे चाहते थे कि, सर्वप्रथम, मानव-समाज में ही पारस्परिक संबंध निर्धारित कर शुद्ध नैतिक जीवन का आदर्श स्थापित किया जाय। अतएव अपने अंतिम सिद्धांत निश्चित करते समय उन्हों ने वर्तमान परिस्थिति वा देश-काल पर ही अधिक ज़ोर दिया।

मुख्य सिद्धांत

महात्मा गौतम बुद्ध के मुख्य सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—उन्हों ने यह स्थिर कर लिया था कि चार बातें अर्थात् (१) दुःख, (२) दुःख-समुदय, (३) दुःख-निरोध, व (४) दुःख-निरोध-मार्ग निश्चित हैं; जिस का तात्पर्य यह है कि हमारा जीवन दुःखमय है, और जीवन वा उस के आनंद की इच्छा करना ही दुःख का कारण है, इस लिए उस इच्छा वा तृष्णा के क्षय द्वारा दुःख की भी निवृत्ति हो सकती है, और तृष्णा का क्षय पवित्र जीवन से प्राप्त किया जा सकता है। इन चारों बातों (चत्वारि आर्यसत्यानि) में से प्रथम के अस्तित्व का प्रमाण वे यह कह कर देते थे कि संसार में सब कुछ नाशमान् वा क्षणस्थायी जान पड़ता है (सर्वं क्षणिकं क्षणिकमिति) और सब कहीं जरामरणादि के रूप में दुःख ही

---

[1] **रुईकन कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म', पृ० ५४**

दुःख दिखाई पड़ता है (सर्वं दुःखं दुःखमिति), तथा आत्मा का अस्तित्व कहीं भी सिद्ध नहीं होता (सर्वमनात्ममनात्ममिति) और इसी भाँति, दूसरे के संबंध में भी उन्हों ने, कार्य-कारण के नियमानुसार, दिखलाया था कि किस प्रकार, वास्तव में, तृष्णा ही सारे दुःखों का मूल कारण है। उन के इस दूसरे प्रमाण को 'द्वादशप्रतीत्यसमुत्पाद' कहते हैं और वह यों बतलाया जा सकता है कि भविष्य में जरामरणादि का दुःख तभी संभव है, जब 'जाति' वा जन्म हो और वर्तमान जन्म, 'भव' अथवा आती हुई परंपरा के कारण हुआ है जो स्वयं 'उपादान' वा आसक्ति पर अवलंबित है, और आसक्ति बिना तृष्णा के नहीं हो सकती। इसी प्रकार तृष्णा भी, वास्तव में, 'वेदना' का फलस्वरूप है, जो स्वयं 'स्पर्श' पर निर्भर है और स्पर्श 'षडायतन' वा छहों इंद्रियों के समूह द्वारा उत्पन्न हुआ करता है। फिर षडायतन के मूल में भी 'नामरूप' है, जो 'विज्ञान' वा चेतना से बनता है, और विज्ञान का भी कारण 'संस्कार' है, जो अंत में, 'अविद्या' द्वारा उत्पन्न होता है[1]। यह भवचक्र निरंतर चलता रहता है और इस का टूटना तभी संभव है जब तीसरे सिद्धांत के अनुसार, वह अवस्था प्राप्त हो जाय जिसे उन्हों ने निर्वाण का नाम दिया था और जिस का अधिक स्पष्टीकरण आगे चल कर हुआ। निर्वाण की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिए भी, इसी प्रकार, उन्हों ने चौथे सत्य के रूप में, 'अट्ठांगिको' अथवा आर्य अष्टांगिक मार्ग के नियम निश्चित किए थे। यह मार्ग एक ओर भोगविलास-मय जीवन के विरुद्ध था, तो दूसरी ओर, शरीर को व्यर्थ कष्ट पहुँचाने वाली तपश्चर्यादि से भी भिन्न था और इसी कारण, इस में (१) सम्यक् वा उचित 'विचार', (२) सम्यक् वा उचित 'संकल्प', (३) सम्यक् वा उचित 'वाणी', (४) सम्यक् वा शुद्ध 'कर्म', (५) सम्यक् वा शुद्ध 'आजीविका', (६) सम्यक् वा ठीक 'व्यायाम' वा उद्योग, (७) सम्यक् वा ठीक 'स्मृति' वा चित्तवृत्ति, एवं (८) सम्यक् वा पूर्ण 'समाधि' सम्मिलित थे।

विशेषता

महात्मा गौतम बुद्ध की जीवनचर्या एवं उन की सिद्धांत-प्रणाली के उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि उन का मुख्य उद्देश्य सारे प्राणियों का दुःख-निवारण था, और इस के लिए ही वे, सर्वप्रथम, आत्मसंयम के अभ्यास की भी आवश्यकता समझते थे। वैदिक धर्म के आत्मज्ञान की

---

[1] हरिसिंह गौड़, 'दि स्पिरिट अव् बुधिज़्म', पृ० १०७

जगह उन्हों ने नैतिक जीवन का आदर्श सब के सामने रक्खा था। वैदिक धर्म का नैतिक आदर्श शुद्ध आत्मज्ञान द्वारा अपने को आत्मविलीन करने तक ही सीमित था, और उस के स्थान पर इन्हों ने आत्मप्रत्यय एवं आत्मसंयम-पूर्वक जनता की सेवा करने का मार्ग भी ढूँढ़ निकाला। महात्मा गौतम बुद्ध मोक्ष को ईश्वरीय दया पर निर्भर नहीं मानते थे। उन के लिए नियमों की नित्यता ही सब कुछ थी, और सदाचार का अनुशीलन सभी धर्मों से बढ़ कर था। उन के अनुसार शुद्ध व पवित्र जीवन, न कि कर्मकांडों का विधान, हमें अमरत्व प्रदान करा सकता है। उन के उपदेश, इसी लिए, शुद्ध व्यावहारिक जीवन को लक्ष्य कर के ही दिए जाते थे, और उन का ढंग भी प्रत्यक्षवाद की ही पद्धति से मिलता-जुलता था। उन्हों ने समानता, स्वतंत्रता व विश्वबंधुता का पाठ सर्वप्रथम पढ़ाने के प्रयत्न किए थे, क्योंकि उन के विचार से प्राणिमात्र अखंड ब्रह्मांड के अंशरूप हैं, और वैदिक धर्मानुसार, नानात्व में एकत्व का भाव आरोपित करने की जगह उन्हें सारी सत्तामात्र की एकता में पूर्ण व दृढ़ विश्वास था। इस के सिवाय वैदिक धर्म यदि सभी गतियों में सत्ता का अनुभव करना बतलाता था, तो बौद्ध धर्म ने, उस के विरुद्ध, संपूर्ण दृश्यमान सत्ता में ही गति का आधिपत्य होना दिखलाया, क्योंकि, पहले के अनुसार, पदार्थों में ही कारणत्व का आभास होता है, किंतु, दूसरे सिद्धांत को मानने वालों के लिए, कारणत्व का विषय ही सब कुछ है; पदार्थ वा द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं। वैदिक धर्म आत्मा को एकमात्र सत्य समझता था, किंतु बौद्ध धर्म ने बतलाया कि, वास्तव में, हमारी वेदना मात्र ही ज्ञेय वस्तु है, और कुछ भी नहीं। महात्मा गौतम बुद्ध के सिद्धांत, इसी कारण, हेतुवाद के अनुसार निश्चित किए गए थे। उन के लिए किसी प्रकार की शास्त्रीय पद्धति का सहारा लेना भी आवश्यक न था, क्योंकि वे स्वावलंबन पर अधिक श्रद्धा रखते थे। वे योगाभ्यास का महत्व भी मन को भिन्न-भिन्न भौतिक विकारों के प्रभाव से हटा कर, उसे शुद्ध व निर्मल रूप प्रदान करने तक में ही परिमित मानते थे। वे संज्ञा वा चेतना को ही चित्त मान कर चलते थे[1] और उन का विश्वास था कि जिस प्रकार वह स्वप्नावस्था के पहले और पीछे दोनों समय वर्तमान रहता है, उसी भाँति उस का जन्म के प्रथम एवं मरण के उपरांत भी विद्यमान होना समझना चाहिए। मृत्यु एक प्रासंगिक घटना मात्र है।

---

[1] 'दीघनिकाय', १–२१३—'चित्तं इति पि इति पि विज्ञानम्।'

(२)

यों तो "महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन काल में ही उन के शिष्य गांधार, गुजरात (सूनापरांत) व पैठन (हैदराबाद राज्य) तक पहुँच चुके थे[१]," किंतु बौद्ध धर्म का पूर्ण-

प्रचार, संघ व प्रथम 'संगीति'

प्रचार, उन के परिनिर्वाण के समय तक, पूर्व की ओर केवल वैशाली तथा राजगृह से लेकर पश्चिम की ओर प्रयाग तथा श्रावस्ती तक ही हुआ था, और वहां के राजे-महाराजों से ले कर साधारण जनता तक, उस में सम्मिलित हो कर, अपने नव-निर्धारित जीवन व्यतीत करने में संलग्न थे। महात्मा गौतम बुद्ध ने अपने उपदेशों द्वारा बतलाया था कि निर्वाण के लिए अर्हत्व वा योग्यता प्राप्त करना उपासक वा गृहस्थ तथा भिक्खु, दोनों के लिए संभव है, और इसी लिए, परिस्थितियों पर विचार कर दोनों के अनुकूल, उन्हों ने अलग-अलग नियमों की भी रचना कर दी थी, किंतु उन के निकटवर्ती शिष्यों में अधिक संख्या भिक्खुओं की ही थी, और उन का भी संघ वा समाज, एक प्रकार से, धार्मिक प्रजातंत्र के समान बन गया था। इस संघ के लिए नियम बनाते समय, प्रवर्तक ने, व्यक्ति-विशेष की श्रेष्ठता व कनिष्ठता के विषय में, इस प्रकार निर्णय किया था कि संघ में जो पहले से प्रव्रजित हुआ है, वह बड़ा है और जो पीछे से प्रव्रजित हुआ है, वह छोटा है[२] और, इस 'सांघिक वृद्धपन' के अनुसार, उन के श्रेष्ठ शिष्य वा 'अग्रश्रावक' संख्या में ८० के लगभग समझे जाते थे। इन अग्रश्रावकों में से भी काश्यप, सारिपुत्र, मोग्गलान, आनंद, अनिरुद्ध, उपलि आदि सोलह शिष्यों की पदवी 'महाश्रावक' वा 'महास्थविर' की थी। 'चुल्लवग्ग' से पता चलता है कि परिनिर्वाण के अनंतर, थोड़े ही दिनों पीछे, महास्थविर काश्यप के प्रस्ताव पर, प्रवर्तक द्वारा उपदिष्ट वचनों को एकत्रित रूप में स्मरण रखने के उद्देश्य से, राजगृह की सत्तपन्नी गुफा में, ४९९ अर्हतों की एक सभा निमंत्रित की गई जिस के संरक्षक, महाराज बिंबसार के पुत्र, अजातशत्रु थे। उस वैठक में महात्मा गौतम बुद्ध के सभी उपदेश, एक-एक करके, गाए गए जिस कारण सभा का नाम भी, आगे चलकर, 'संगीति' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। गाते समय विनय के बुद्ध-कथित १० नियमों को उपलि ने, अभि-

---

[१] राहुल सांकृत्यायन, 'गंगा' का पुरातत्वांक, पृ० २०८
[२] आनंद कौशल्यायन, 'महात्मा बुद्ध और उन के अनुचर', पृ० ३१

धम्म को काश्यप ने, और सुत्तभाग को आनंद ने उपस्थित किया था, और उन्हीं के प्रमाण पर, उन का वर्गीकरण, सर्वप्रथम, क्रमशः 'विनय', 'अभिधम्म' एवं 'सुत्त' के नाम से हुआ था।

विचार-स्वातंत्र्य व द्वितीय 'संगीति'

महात्मा गौतम बुद्ध ने, एक बार, किन्हीं कालामागोत्रीय लोगों द्वारा प्रश्न करने पर, बतलाया था कि संदेह का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किसी बात में केवल इस लिए विश्वास मत करो कि वह तुम्हारे आचार्यों की कही हुई है। इस लिए मत विश्वास करो कि वह तुम्हारे धर्म-ग्रंथों में लिखी हुई है। बल्कि प्रत्येक बात को अपने व्यक्तिगत अनुभव की कसौटी पर जाँचो, यदि तुम्हें वह अपने तथा औरों के लिए हितकर जान पड़े तो उसे मान लो, न जान पड़े तो मत मानो।'[1] कारण यह था कि स्वयं उन के भी सिद्धांत, किसी ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा व्यक्त न हो कर बुद्धिवाद के अनुसार निश्चित किए गए थे और अंतिम निर्णय के लिए, किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा न कर, कोई भी जिज्ञासु उन्हें, अपनी तर्क-पद्धति के सहारे स्वयं जाँच सकता था। अतएव उन के जीवन-काल में ही, उन के सिद्धांतों के विषय में, भिन्न-भिन्न शिष्य अपने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट करने लग गए थे, और परिणामस्वरूप, उन में पारस्परिक संघर्ष भी उत्पन्न होता आ रहा था। परंतु उस समय इस प्रकार की बातें व्यक्तिगत मात्र समझी जाती थीं।[2] उन के परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष पीछे, अर्थात् सन् ३८६ ई० पू० में, वैशाली के वज्जी भिक्खुओं ने १० ऐसे नियमों का प्रचार करना आरंभ किया जिन में ताड़ी का व्यवहार करने तथा भिक्खुओं द्वारा सोना, चाँदी आदि ग्रहण किए जाने के संबंध में भी व्यवस्था दी गई थी। अतएव यश नामक किसी वृद्ध भिक्खु ने इन बातों का घोर विरोध किया, और इस के विरुद्ध निर्णय कराने के उद्देश्य से, उस ने वैशाली में एक दूसरी 'संगीति' का आयोजन कराया। इधर वज्जियों को जब यह समाचार मिला कि वह अपने पक्ष में मत एकत्रित कर रहा है तो उन्हों ने भी संगठन किया, और साधारण मतभेद ने, इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते क्रमशः पूर्वदेशीय युवकों तथा पश्चिमदेशीय महास्थविरों के झगड़े का एक वृहत् रूप धारण कर लिया।

---

[1] आनंद कौशल्यायन, 'महात्मा बुद्ध और उन के अनुचर', पृ० ८-९
[2] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म,' पृ० ११४

इस कारण बैठक में, जो प्रायः आठ महीनों तक जारी रही, लगभग ७०० भिक्खुओं ने भाग लिया, और सुभीते के साथ निर्णय की कार्यवाही संपन्न करने के विचार से, एक समिति भी नियुक्त की गई जिस में चार व्यक्ति पूर्व के व चार पश्चिम के सम्मिलित थे। अंत में समिति के सामने दसों नियम, एक-एक कर के रक्खे जाकर, सभा द्वारा अविहित और अनुचित ठहरा दिए गए, और पश्चिमी महास्थविरों की जीत हो गई[1], जिस कारण, उन्हों ने पूर्वी युवकों को 'अधर्मवादी' तथा 'पापभिक्षु' तक कह डाला। फलतः इस संगीति ने भिक्षुओं के बीच एक व्यापक संघर्ष की नींव डाल दी, और किसी भद्र नामी भिक्खु के सूत्र-संबंधी पाँच अन्य प्रश्नों पर भी विरोध उठ खड़े होने के कारण, अंत में, उन के दो भिन्न दल स्पष्ट हो गए।[2]

तृतीय 'संगीति' व प्रचार-कार्य

वैशाली की उपर्युक्त द्वितीय संगीति को बौद्ध धर्म के इतिहास में बड़ा महत्व दिया जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम, इस बैठक में ही यह प्रकट हुआ था कि उस के प्रचलित सिद्धांतों को, मूलरूप में, मानने के लिए सभी अनुयायी एक समान तैयार नहीं हैं, और विचार-स्वातंत्र्य के कारण, भिन्न-भिन्न दलों का बनता जाना भी अनिवार्य है। इस के सिवाय परिनिर्वाण के अनंतर, सौ वर्षों तक, जो क्रांतिकारी विचार वाले महासांघिक आदि, व्यवहारतः अज्ञात-रूप में कार्य करते आ रहे थे वे भी, पहले-पहल, इसी समय प्रकाश में आए। फिर तो ऐसे वर्गों वा निकायों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी, और सम्राट् अशोक के समय तक, सिद्धांतों के प्रचार में अधिक विस्तार आने लगने के कारण, इस ओर प्रवृत्ति और भी प्रौढ़-तर होती गई। सम्राट् अशोक ने, विशेष-रूप से इस बाढ़ को रोक कर एकता लाने के ही उद्देश्य से सन् २४२ ई० पू० के लगभग, अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में, एक तीसरी संगीति वा सभा निमंत्रित की जिस में प्रायः १००० भिक्खु सम्मिलित हुए। यह सभा राजगुरु तिस्स मोग्गलि के सभापतित्व में नव महीनों तक कार्य करती रही और इस के सभासदों ने, 'कथावत्थु' नाम की एक पुस्तक तैयार कर, उस के द्वारा अनेक प्रचलित मतभेदों की समीक्षा करने का प्रयत्न किया। 'कथावत्थु' में प्रायः बीस निकायों वा मतों का उल्लेख है और

---

[1] रमेशचंद्र दत्त, 'सिविलिज़ेशन इन एंश्यंट इंडिया', पृ० ३६८–६

[2] कोमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म', पृ० ११५

इन में से अधिकतर महासांघिक वर्ग से ही मिलते-जुलते जान पड़ते हैं।[१] इस तृतीय संगीति में सदाचार-संबंधी नियमों के पालन पर बहुत कुछ कहा गया था, और पूर्वकथित बुद्ध-वचनों के सुत्त, विनय, एवं अभिधम्म नामक तीनों विभागों को, त्रिपिटक नाम के संग्रह का, अंतिम रूप दिया गया था। परंतु मतभेदों का अस्तित्व नहीं मिटाया जा सका; और यह संगीति भी, वास्तव में, स्थविरों वा थेरवाद की ही सभा बन कर रह गई। सम्राट् अशोक ने, धर्मप्रचार के उद्देश्य से, अनेक स्थलों पर स्तूपादि का भी निर्माण कराया, और अपने संदेश भारतीय प्रदेशों के अतिरिक्त सीरिया, मिश्र व मैसिडन तक भेजे, तथा सिंहल द्वीप, में इस के लिए, अपने पुत्र महेंद्र को नियुक्त किया। सिंहल द्वीप के राजा तिस्स ने, स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकार कर, उस के प्रचार में हाथ बँटाया और यहीं पर, अंत में सन् ८८ ई० पू० के लगभग त्रिपिटक पहले-पहल लिपिबद्ध हुए। यही पाली त्रिपिटक आज तक भी थेरवाद के सब से प्रामाणिक ग्रंथ माने जाते हैं।[२]

संबंध-विच्छेद

तृतीय संगीत में यद्यपि थेरवाद की ही प्रधानता दिखाई पड़ी और अंत में उसी के अनुसार कार्य भी हुए, किंतु तात्कालिक लक्षणों से यह स्पष्ट हो गया कि महासांघिक दल वालों की अब अधिक उपेक्षा नहीं की जा सकती और संगीतियों की कार्यवाही पर कोई महत्वपूर्ण छाप न डाल सकने पर भी, उन के बल का क्रमशः बढ़ता जाना निश्चित सा है। तदनुसार, पता चलता है कि, इस बैठक के अनंतर, जब पाटलिपुत्र में, कुक्कुटाराम स्थान पर, बौद्ध धर्मावलंबियों की विशेष चहल-पहल होने लगी तो उस में महासांघिकों का ही प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता था।[३] इतना ही नहीं, बल्कि परस्पर-विरोधी स्थविरों और महासांघिकों के बीच एकता स्थापित करने का उक्त प्रयत्न निष्फल हो जाने पर दोनों दलों का एक स्थान पर रहना तक कठिन हो गया और अंत में, स्थविरों को सामूहिक रूप से मगध का परित्याग कर देना पड़ा। परंतु वहां से चलते समय, विनयपिटक एवं सूत्रपिटक में से किसी एक को विशेष महत्व देने के विषय में, मतभेद उपस्थित हो जाने के कारण, स्वयं उन के भी दो

---

[१] हरप्रसाद शास्त्री, 'अद्वयवज्रसंग्रह', भूमिका, पृ० २०
[२] रमेशचंद्र दत्त, 'सिविलिज़ेशन इन एंश्येंट इंडिया,' पृ० ३७२ व ३१४
[३] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म', पृ० ५

भिन्न दल हो जाने से, विनयमाणक के अनुयायी सिंहल की ओर बढ़े और सूत्रमाणक के माननेवाले काश्मीर एवं गांधार की दिशा में पश्चिमोत्तर भारत की ओर चल निकले और बौद्ध धर्म के इतिहास में इस विभाग का महत्वपूर्ण परिणाम क्रमशः दक्षिणी बौद्ध धर्म वा हीनयान तथा उत्तरी बौद्ध धर्म वा महायान के दो प्रसिद्ध संप्रदायों के निर्मित हो जाने पर विशेष रूप से लक्षित हुआ। बात यह थी कि उत्तर की ओर जाकर अपने सिद्धांतों का प्रचार करते समय सूत्रमाणक के अनुयायियों पर, परिस्थिति के अनुसार, महासांघिकों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा, और उन की विचार-धारा, इस काल के अनंतर बहुत कुछ बदलने सी लग गई। तब से उन का ध्यान धीरे-धीरे दार्शनिक विवेचनों की ओर ही अधिक आकृष्ट होता गया, और वे अधिकतर एक नए 'सर्वास्तिवादी' नाम से अभिहित होने लगे।[१] इस के विपरीत दक्षिण की ओर जाने वाले विनयमाणक के अनुयायियों पर वैसा कोई बाहरी प्रभाव नहीं पड़ा, इस कारण वे महात्मा बुद्ध द्वारा प्रवर्तित व प्रचारित नियमों को मूलरूप में भली-भाँति समझने तथा उन का यथासंभव, अक्षरशः पालन करने में ही अधिकतर संलग्न रहे और उन्हीं का उन्हों ने स्याम आदि देशों में प्रचार भी किया।

मूल कारण

महात्मा गौतम बुद्ध ने, बोधि वृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्त करते समय, जगत के गूढ़ रहस्यों को दो भिन्न-भिन्न धारणाओं के रूप में समझा था, जिन में से एक अंतर्जगत की वास्तविक शांतिमयी अवस्था विषयक थी, और दूसरी वहिर्जगत की दृश्यमान दुःखमयी स्थिति से संबंध रखती थी। इस भाँति उन्हें दो भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त हुए थे, जिन्हें क्रमशः जगत-संबंधी अंतिम सत्य और केवल दृश्यमान जगत-संबंधी सत्य कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में यही बात यों भी बतलाई जाती है कि, जब उन्हों ने इस जगत को अपने 'संबुद्ध' नेत्रों से देखा तो, सर्वप्रथम, उन्हें अकस्मात् सूझ गया कि वहिर्जगत का दृश्यमान भौतिक संसार, वास्तव में, कार्यकारण संबंधी नियमों की एक शृंखला मात्र है, और इस के पीछे उन्हें अंतर्जगत की वास्तविकता अथवा उस की अनुभूति के मार्ग का बोध हुआ।[२] जो हो, तात्विक दृष्टि द्वारा देखने पर इन में से दूसरा अनुभव, पहले की अपेक्षा, स्वभावतः, अधिक महत्व-

---

[१] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज्म', पृ० ६
[२] वही, पृ० ४७

पूर्ण जान पड़ता था, किंतु साथ ही, वह कहीं 'दुर्दर्श' व 'दुर्बोध्य' भी था और, गूढ़ एवं अतर्क्य होने के कारण, केवल मनीषियों द्वारा ही बोधगम्य था।[1] परिणामस्वरूप, सर्व-साधारण की तात्कालिक आवश्यकताओं के विचार से उन्हों ने, पहले के अनुसार, अपने व्यक्तोपदेश निश्चित किए और उन की तात्विक वा दार्शनिक रहस्य-संबंधी दूसरी अनुभूत बातें उस समय केवल गुह्योपदेश के रूप में ही रह गईं, अर्थात् व्यक्तोपदेश को तो उन्हों ने जनता के सामने प्रकट कर दिया, किंतु गुह्योपदेश का प्रचार उस समय उन्हों ने केवल निकटवर्ती शिष्यों तक ही परिमित रक्खा। इस कारण, पहला उन के जीवन काल से ही प्रचलित हो चला और दूसरे को उन के परनिर्वाण के अनंतर उन के शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा समय पा कर प्रचारित होना पड़ा। अतएव, ऐतिहासिक दृष्टि से, पहला मूल बौद्ध धर्म के नाम से व दूसरा विकसित बौद्ध धर्म कहला कर प्रसिद्ध हुए और, आगे चल कर, इन्हीं दोनों को क्रमशः हीनयान और महायान के नाम भी दिए गए जैसा कि इन के प्रामाणिक ग्रंथों द्वारा भी प्रकट हो जाता है।

महासांघिक दल व महायान का आरंभ

बौद्ध धर्म के प्राप्त प्राचीन ग्रंथों के आधार पर, यह अनुमान किया जा सकता है कि, महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में, उन के तर्क-वितर्क वा वाद-विवाद करने वाले शिष्यों को, उन की विवेचनात्मक विश्लेषण-पद्धति के कारण, बहुधा 'विभज्यवादी' नाम दिया जाता रहा,[2] और आगे चल कर, कदाचित् उन्हीं अथवा उन के अनुयायियों में से ही वे लोग भी निकले जो अपने को महासांघिक कहने लगे। इन महासांघिकों ने, अपनी स्वातंत्र्य-प्रियता के कारण महास्थविरों के विरुद्ध आंदोलन रच कर, उन्हें वैशाली की उक्त द्वितीय संगीति के उपरांत, मगध छोड़ने पर विवश कर दिया, और उन के द्वारा 'अधर्मवादी' अथवा 'पापभिक्षु' कहे जाने के कारण क्षुब्ध हो कर, इस के बदले में, उन के मत को 'हीनयान' तथा अपने मत को 'महायान' कहना आरंभ किया। फिर भी बहुतों की धारणा रही है कि महायान संप्रदाय के मूल प्रवर्तक प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन थे, जो ईसा के पश्चात्

---

[1] 'महावग्ग', १, ५, २-३—'अधिगतो खो में अयं धम्मो गंभीरो, दुद्दशो, दुरनुवोधो संतो पणितो अतक्कावचरो निपुणो पंडितवेदनीयो'।

[2] कीसुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म', पृ० १५२

दूसरी व तीसरी शताब्दियों के बीच के समझे जाते हैं। किंतु यह अनुमान उक्त आचार्य के 'प्रज्ञापारमिताशास्त्र' व 'दसभूमिविभाषाशास्त्र' को देखने से निराधार सिद्ध हो जाता है; क्योंकि, वास्तव में ये ग्रंथ क्रमशः 'प्रज्ञापारमितासूत्र' एवं 'अवतंसकसूत्र' वाले दसभूमि नामी प्रथम दो अध्यायों के वृहद् भाष्यमात्र हैं; और इन के रचयिता ने इन में अनेक अन्य महायान सूत्रों के भी मूल अवतरण दिए हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वसुमित्र के 'निकाय-अवलंबन-शास्त्र' की परमार्थ-लिखित भूमिका से, यह भी पता चल जाता है कि बुद्धपरिनिर्वाण के अनंतर की दो अर्थात् चौथी व तीसरी शताब्दियों में भी महायानसूत्र किसी न किसी रूप में विद्यमान थे; और उन्हें महासांघिक लोग अपने व्यवहार में लाया करते थे।[1] चीनी बौद्ध विद्वानों का तो यह निश्चय है कि महात्मा गौतम बुद्ध ने, बुद्धत्व प्राप्त करने के अनंतर तीन सप्ताहों में, सर्वप्रथम, अपने दार्शनिक उपदेश ही देना आरंभ किया था जो इस समय अवतंसक सूत्रों में संगृहीत हैं, और जब उन्हें, परिस्थिति का परिचय प्राप्त कर लेने पर जान पड़ा कि वैसे विचार सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य न होंगे तो, उन्हों ने अपनी पूर्व-धारणा बदल दी और तब वे केवल उन धार्मिक उपदेशों को ही देने लगे जो चार आगमों वा पाली निकायों के अंतर्गत आते हैं। फिर लोगों की बुद्धि में कुछ अधिक प्रौढ़ता आने पर उन्हों ने, अंत में, उन दार्शनिक विचारों को भी प्रकट किया जो 'प्रज्ञा-पारमितासूत्र', 'महावैपुल्यसूत्र', 'सद्धर्मपुंडरीकसूत्र' और 'महापरिनिर्वाणसूत्र' में पाए जाते हैं।[2] जो हो, सभी बातों पर विचार करने से, वास्तविकता यह जान पड़ती है कि महात्मा गौतम बुद्ध के तर्कप्रिय एवं सूक्ष्मदर्शी अनुयायियों ने ही, उन के निर्वाण के अनंतर, उन के समय-समय पर प्रकट किए गए उक्त गुह्योपदेशों पर गवेषणापूर्वक मनन कर के उन्हें अपनी टीका टिप्पणियों से समन्वित व विवर्धित किया, और इस प्रकार, काल-क्रमानुसार, उन्हें महायान सूत्रों वा उस प्रकार के अन्य ग्रंथों के रूप दिए।

भीतरी प्रमाण

परंतु उपर्युक्त परिणाम निकालने के लिए भी पर्याप्त बाहरी प्रमाणों का अभाव दिखाई पड़ता है। अतएव, टोकियो के जापानी प्रोफ़ेसर कीमुरा ने, बौद्ध ग्रंथों व सिद्धांतों की अंतरंग परीक्षा द्वारा, भीतरी

[1] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म,' पृ० १०–११
[2] वही, पृ० ६४

बातों के आधार पर, इस विषय को और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन का कहना है कि प्रत्येक बौद्ध संप्रदाय के सिद्धांत मुख्यतः तीन बातों से संबंध रखते हैं, अर्थात् जगत्तत्त्व ('कास्मिक एग्ज़िस्टेंस'), बुद्धतत्व ('बुद्धालोजी') और मानवजीवन-तत्व ('कंसेप्शन अव् ह्यूमन लाइफ़'), और प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है, कि, इन तीनों के विषय में, महायान सूत्रों, महासांघिकों तथा, अंत में, महात्मा गौतम बुद्ध के मौलिक सिद्धांतों में भी आश्चर्यजनक समता वा एकता है।[1] प्रो० कीमुरा की युक्तियों का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है:—

जगत्तत्वसंबंधी मत-साम्य

(क) महात्मा गौतम बुद्ध के मूल बौद्ध धर्म, और थेरवाद के अनुसार भी, सभी कुछ 'अनित्य' एवं 'अनात्म' हैं जिस का तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह परमाणुओं के सामूहिक संघटन के सिवाय और कुछ नहीं, और, चूंकि ये समुदाय भी हेतु व प्रत्ययों अर्थात् कार्यकारणों से ही उत्पन्न होते रहते हैं, और इन के नियामक भी केवल परिवर्तन एवं कार्यकारण के निश्चित नियम मात्र हैं, अतएव, उन के लिए सर्वगत संज्ञा, सृष्टि के रचयिता वा नियंता के रूप में कोई भी आधार नहीं हो सकता। थेरवादियों की सर्वास्तिवादी शाखा वाले इतना और भी कहते थे कि यद्यपि संघटित वस्तुएं अनित्य हैं, किंतु जिन पदार्थों द्वारा उन का संघटन हुआ है वे वास्तव में नित्य हैं; और इन का मत, इसी कारण, 'अनात्मा-सर्वास्तिवाद' कहलाता था। किंतु प्रारंभिक महासांघिक दल विश्व के परमाणुओं का अस्तित्व न तो भूत में मानता था और न उन की कल्पना भविष्य के लिए ही करता था। बल्कि कहता था कि वह केवल वर्तमान में ही अवस्थित हैं और, उस की एकव्यवहारिक शाखा के अनुसार, इह लोक एवं उत्तर लोक इन दोनों के अस्तित्व की कल्पना केवल व्यावहारिक रूप से ही की जाती है। अतएव, वास्तव में, कोई भी सत्ता नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में इस दल के लोग परमाणुओं का अस्तित्व वर्तमान में भी नहीं मानते थे, और इसी कारण, इन के लिए महासांघिकों का 'अनात्मा-अधर्मवादी' शब्द सर्वथा उपयुक्त था। महासांघिकों का एक तीसरा दल लोकोत्तरवादी कहलाता था, और परमार्थ ने उन के सिद्धांतों का 'शून्यात्मा-शून्यधर्मवाद' द्वारा नामकरण किया है, जिस से जान पड़ता

---

[1] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म', पृ० ७३

है कि महासांघिकों की प्रत्येक शाखा को महायान सूत्रों की सर्वशून्यता, किसी न किसी रूप में, अवश्य मान्य रही होगी। महासांघिकों का 'अनात्मा-अधर्म' सिद्धांत ही प्रज्ञा-पारमिता सूत्रों द्वारा पल्लवित व पुष्पित कर के 'शून्यपुरुष-शून्यधर्म' के रूप में परिणत कर दिया गया है, और यही सर्वशून्यता का सिद्धांत भी कहलाता है। इस के सिवाय यदि हम इस केवल निषेधार्थक विचारबिंदु को छोड़ कर, दूसरी दृष्टि से भी देखें तो पता चलेगा कि महासांघिकों का लोकोत्तरवादी दल संसार की सत्ता वा 'लौकिक धर्म' को, वास्तव में, 'विपरीतमूलम्' अथवा विपक्ष भाव से उत्पन्न हुआ समझता था, और इसी कारण, वह क्रमशः क्लेश, संस्कार और कार्य को, एक को दूसरे का कारण मान कर उन सब को, मिथ्या बतलाता था। उस के अनुसार, केवल 'उत्तरलौकिक धर्म' सत्य था और, प्रायः ठीक इसी भावना से प्रेरित होकर, 'प्रज्ञापारमिता' आदि सूत्रों के रचयिताओं ने भी, 'निराकार सर्वशून्यता' एवं 'सर्वधर्माणां शून्यता न सा शक्याभिलपितुम्' जैसे पदवाक्यों का प्रयोग करते हुए भी, साथ ही 'धर्मस्वभावनित्यम्' के सिद्धांत को भी स्वीकार किया था। इस का अभिप्राय यह है कि ये लोग शून्यवादी हो कर भी, एक भिन्न दृष्टि से, सत्ता को, मूलरूप में, नित्य समझते थे और कदाचित् इसी बात को, आगे चल कर आचार्य नागार्जुन ने भी अपने 'संवृतिसत्य' एवं 'परमार्थसत्य' संबंधी सिद्धांत द्वारा और भी स्पष्ट किया था। अतएव जगत्तत्त्व-संबंधी सिद्धांत महात्मा गौतम बुद्ध के मूल बौद्ध धर्म से लेकर महायान सूत्रों तक प्रायः एक ही प्रकार के हैं।

बुद्धतत्त्व की परंपरा

(ख) इसी प्रकार बुद्धतत्त्व-संबंधी मतों के मिलान करने पर भी वैसा ही परिणाम निकलता है। महात्मा गौतम बुद्ध का प्रथम नाम सिद्धार्थ वा शाक्यसिंह था और 'गौतम बुद्ध' वे बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर ही कहलाने लगे जिस का फल यह हुआ कि यद्यपि उन के जीवन-काल में सर्वसाधारण उन्हें एक जीते-जागते शक्तिशाली मनुष्य के रूप में ही देखते रहे हों, फिर भी उन के परिनिर्वाण के अनंतर, जितना ही समय बीतता गया उतना ही लोग उन्हें एक अलौकिक व्यक्ति के रूप में मानने लगे और जैसे-जैसे ऐतिहासिक बुद्ध लुप्त होते गए तैसे-तैसे उन के अनेक अलौकिक गुणों में वृद्धि भी होती गई और उन के स्थान पर एक ईश्वरीय महापुरुष की सृष्टि का उपक्रम भी होता गया। फिर तो धीरे-धीरे ऐसी बातें भी स्वयं उन्हीं के मुख से निकली हुई, समझी जाने लगीं कि 'मैं सर्व शक्तिमान्

सर्वज्ञ हूं, मैं सभी कारणों से परे और सर्वत्यागी हूं, और मैं सभी तृष्णाओं से भी विमुक्त हूं अथवा जो धम्म को भलीभाँति समझता है वही मुझे भी जान सकता है, और जो मुझे जानता है वही, वास्तव में, धम्म को भी जानता है', और इस प्रकार उन का व्यक्तित्व, धर्म के साथ एकीकरण किए जाने के कारण, 'धर्मकाय बुद्ध' के रूप में लक्षित होने लगा और ऐतिहासिक बुद्ध केवल 'निर्माणकाय बुद्ध' हो कर ही रह गए। इस भावना को और भी पूर्ण करने की दृष्टि से, एक 'संभोगकाय' की भी सृष्टि कर, अंत में 'त्रिकायवाद' चलाया गया। परंतु इस प्रकार की धारणाएं, सर्वप्रथम, महासांघिकों के ही दल में उत्पन्न हुई थीं, और वसुमित्र के ग्रंथ 'महावसु' की रचना के समय तक, महात्मा गौतम बुद्ध एक ऐसे महापुरुष समझे जाने लगे थे जो, मानव-समाज के ऊपर अनुग्रह कर, 'लोकानुवर्तन' के उद्देश्य से ही, मानव-शरीर धारण कर लेते हैं, अन्यथा वे वास्तव में लोकोत्तर हैं। प्रायः इसी प्रकार की बातें महायान सूत्रों में से 'अवतंसकसूत्र' एवं, उस से भी विस्तार के साथ, 'सद्धर्मपुंडरीक-सूत्र' के 'तथागतायुष-प्रमाण-परिवर्त' नामक भाग में भी, अनेक स्थलों पर, बतलाई गई हैं, जिन के आधार पर, आगे चल कर, मुख्यतः नागार्जुन, मैत्रेयनाथ, असंग एवं वसुबंधु का त्रिकायवाद रचा गया था। दूसरे शब्दों में महायानियों की, बुद्धतत्त्व-संबंधी त्रिकायवाद की भावना वास्तव में महासांघिकों से ही आरंभ हुई थी, और इस कारण, उस का अंतिम रूप भी उन्हीं के तद्विषयक विचारों का एक विकसित और विस्तृत एवं पल्लवित संस्करण मात्र था।

मानवजीवन-तत्त्व-संबंधी एकता

(ग) महात्मा गौतम बुद्ध के मानव-जीवन-तत्त्व विषयक सिद्धांतों पर विचार करने पर भी हम देखते हैं कि उन में भी महायान के तत्संबंधी अंतिम मत का बहुत कुछ अंश बीजरूप से विद्यमान था, और वही धीरे-धीरे समयानुसार विकसित होता गया था। महात्मा गौतम बुद्ध ने, महायानियों के अनुसार, अपने को नित्य, अनादि व अनंत मानते हुए भी, यह स्वीकार किया था कि सभी मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त करने की शक्ति रखते हैं, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो वे स्वयं भी सिद्धार्थ वा शाक्यसिंह से बुद्ध नहीं बन सकते थे, और न उन के लिए कोई ऐसा मार्ग ही निकल सकता था। यदि बुद्धत्व सभी मनुष्यों में बीज-रूप से वर्तमान नहीं है, तो उन के उपदेशों का कोई महत्व भी नहीं समझना चाहिए। अतएव, उन के तात्विक अनुभवों के अनुसार, सभी मनुष्यों में

मूलतः बुद्धत्व के बीज का होना स्वतःसिद्ध है, जैसा 'संयुक्तनिकाय' में प्रकट किए विचारों से भी पता चलता है। उधर वसुमित्र के 'निकायभेदधर्म-मतिचक्रशास्त्र' से विदित होता है कि महासांघिकों की चारों शाखाओं (अर्थात् मूल महासांघिक, एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवाद एवं कौक्कुटिक दलों) के अनुयायी इस विषय में सहमत थे कि मनुष्य मात्र का चित्त, मूलरूप में, शुद्ध व निर्मल हुआ करता है और ठीक यही विचार, महायान संप्रदाय द्वारा बहुधा प्रयुक्त किए जाने वाले, 'बुद्धस्वभाव' शब्द से भी व्यक्त होता है, जिस का तात्पर्य यह है कि सभी मनुष्य मूलतः बुद्ध-स्वभाव-संपन्न होते हैं। इसी प्रकार 'अवतंसक' सूत्रों से प्रकट होता है कि विश्वात्मक चित्त, बुद्ध और मानव-जीवन, ये तीनों वस्तुतः एक और अभिन्न हैं; तथा 'सद्धर्मपुंडरीकसूत्र' से भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि सभी मानवजीवनधर्म, काय से संबद्ध हुआ करते हैं, अथवा इन सभी का अंतिम आश्रय वा आधार एकमात्र धर्मकाय बुद्ध ही है। 'सद्धर्मपुंडरीक' के कतिपय अन्य स्थलों से भी यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि सभी मनुष्यों के भीतर बुद्ध-स्वभाव मूलरूप में विद्यमान रहता है, और सब किसी में बुद्धत्व का बीज भी वर्तमान है। अतएव मानव-जीवन के विषय में स्वयं महात्मा बुद्ध, महासांघिक दल एवं महायान सूत्रों की विचार-परंपरा एक समान दिखाई पड़ती है।

सारांश यह कि जगत्तत्त्व, बुद्धतत्त्व एवं मानवजीवनतत्त्व, इन तीनों की दृष्टियों से ही महात्मा गौतम बुद्ध, महासांघिक दल एवं महायान सूत्रों का विचारसाम्य, स्पष्टरूप से, लक्षित होता है और परिणामस्वरूप, हम कह सकते हैं कि, महात्मा बुद्ध के ही दार्शनिक सिद्धांत वास्तव में, महासांघिकों द्वारा महायान सूत्रों में प्रकट किए जा कर, अंत में, महायान संप्रदाय के विविध मतों के रूप में परिणत हुए थे। महायान सूत्रों के रचयिता महासांघिकों वा उन की पिछली पीढ़ी वालों के सिवाय और दूसरे कोई नहीं थे, और महासांघिकों को ही हमें महायान संप्रदाय के अगुआ वा पूर्वपुरुष मानना चाहिए। इस प्रकार महायान संप्रदाय की उत्पत्ति, ऐतिहासिक दृष्टि से, नागार्जुन के समय में न हो कर, वास्तव में, उस के बहुत पहले, महासांघिकों के समृद्धि-काल में ही, हो चुकी थी, और मूल सिद्धांतों के अनुसार उस की विचारधारा के स्रोत स्वयं महात्मा गौतमबुद्ध के ही अनुभवों में निहित थे। इसी कारण बौद्ध धर्म के चीनी एवं जापानी अनुयायी सदा से इस बात पर

परिणाम

विश्वास रखते आए हैं कि 'प्रज्ञापारमिता' सूत्रों में मुख्य कर महात्मा बुद्ध के ही आत्म-दर्शन व मूलसंज्ञा-संबंधी अनुभव जगत्तत्त्व के विषय में संगृहीत हैं, और उन्हीं के इस प्रकार के विचार, बुद्धतत्त्व एवं मानवजीवन-तत्त्व के विषय में, 'अवतंसक' सूत्रों में भी दिए गए हैं, तथा इन तीनों अर्थात् जगत्तत्त्व, बुद्धतत्त्व एवं मानवजीवन-तत्त्व, के विषय में उन के द्वारा उसी प्रकार व्यक्त किए गए विचार और भी प्रौढ़ता और पूर्णता के साथ, इन सब से महत्वपूर्ण, 'सद्धर्मपुंडरीक' सूत्रों के अंतर्गत सन्निविष्ट हैं।[1]

(३)

परिस्थिति व चतुर्थ संगीति

ईसा के पहले की दूसरी शताब्दी बौद्ध धर्म (विशेष कर अशोक-स्वीकृत बौद्ध धर्म) के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुई क्योंकि उत्तरी भारत में, इसी समय, तीन ब्राह्मण कुलों ने राज्य किया, और प्रायः इन तीनों ने ही उसे, किसी न किसी प्रकार, नष्ट व निर्मूल करना चाहा। शुंग-वंशी पुष्यमित्र ने तो अपने समय में बौद्धों का तीन बार दमन किया, और उन के अनेक भिक्खुओं को मरवा तक डाला, जिस कारण बहुत से बौद्ध भाग-भाग कर पंजाब, दक्षिणी भारत वा विदेशों तक चले गए। चीन देश के बौद्ध पुष्यमित्र को आज भी, इसी लिए, कोसते हैं।[2] जो हो, पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र के समय यूनानियों ने भारत पर चढ़ाई कर मिलिंद (मेनांडर) के नेतृत्व में विजय प्राप्त कर ली और इस प्रकार पश्चिमोत्तर भारत में विदेशियों का आधिपत्य हो गया। किंतु बौद्ध धर्म पर उस का कोई बुरा प्रभाव न पड़ा। पता चलता है कि उस समय तक उत्तरदेशीय बौद्ध धर्म पश्चिमोत्तर भारत में भली-भाँति फैल चुका था, और उस के आचार्य, नागसेन ने मिलिंद के साथ धार्मिक विषयों पर चर्चा कर उसे बौद्धधर्मानुयायी बना लिया। इस धार्मिक चर्चा का विवरण हमें प्रसिद्ध पालिग्रंथ 'मिलिंदपण्हो' से मिलता है जिस में संगृहीत बहुत सी बातें महासांघिक सिद्धांतों से भी उन्नत जान पड़ती हैं। ईसा के अनंतर की प्रथम शताब्दी में फिर कुषाण-वंशी युइचियों ने पश्चिमोत्तर भारत के कुछ भाग जीत लिए और कुछ दिनों में ही उन के राजा कनिष्क का राज्य, उधर काबुल व खोकन से लेकर दूसरी ओर क्रमशः

---

[1] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज्म', पृ० ११२-३
[2] हरप्रसाद शास्त्री, 'अद्वयवज्रसंग्रह', भूमिका, पृ० २०-१

सिंध, गुजरात व आगरा तक विस्तृत हो गया। यह कनिष्क भी बौद्धधर्मानुयायी था, इस कारण, अशोक की भाँति, इस ने भी १४० ई० के लगभग, ५०० भिक्खुओं की एक सभा एकत्रित की जिस में केवल उत्तरदेशीय बौद्ध, वा कदाचित् सर्वास्तिवादी वर्ग वाले ही, सम्मिलित किए गए और मूल थेरवादी कोई भी निमंत्रित नहीं हुआ।[1] हुएनसंग का कहना है कि इस सभा के अवसर पर कुल प्राप्त बौद्ध ग्रंथ एकत्रित किए गए थे, और उन पर विस्तृत भाष्य निर्माण कर, उन्हें ताम्रपत्रों पर खुदवाया गया था, तथा वे सभी पत्र काश्मीर के किसी स्तूप में गाड़ भी दिए गए थे। ये भाष्य संस्कृत भाषा में लिखे गए थे, और इन में विशेष कर पाली त्रिपिटक वाले विषयों का ही समावेश था। इस कारण, इन के नाम भी 'सूत्रपिटक', 'विनयपिटक' व 'अभिधर्मपिटक' के आधार पर क्रमशः 'उपदेशशास्त्र', 'विनयविभाषाशास्त्र' व 'अभिधर्मविभाषाशास्त्र' रक्खे गए थे।[2] बौद्धों की इस सभा को कनिष्क ने अपने धर्माचार्य पार्श्व के परामर्श से आयोजित किया था और इस का सभापति प्रसिद्ध विद्वान् वसुमित्र था। इस सभा में, कदाचित् पहले-पहल ही, कुछ ऐसे लोग भी दिखाई पड़े थे, जो अपने को स्पष्ट शब्दों में महायान-धर्मी बतलाते थे, और यह सभा, कुछ ऐसे ही कारणों से, बौद्ध धर्म की चौथी संगीति कहला कर भी थेरवादियों को मान्य नहीं है। कुषाण-काल बौद्ध साहित्य व विशेष कर बौद्ध कला के लिए स्वर्णयुग के समान था क्योंकि इसी समय, वसुमित्र के अतिरिक्त, पार्श्व के उत्तरवर्ती क्रमशः पुण्ययश व प्रसिद्ध साकेतवासी कवि व दार्शनिक आचार्य अश्वघोष भी वर्तमान थे, और गांधार कला तथा मथुरा कला ने भी बड़ी उन्नति की थी।

महासांघिकों का प्रभाव : नागार्जुन

उत्तरी भारत में इधर शुंगों एवं काण्वों के अनंतर, आंध्रवंशी राजाओं का समय आया। आंध्र राज्य का अधिकांश दक्षिणी भारत में ही फैला हुआ था, और उस की राजधानी पहले प्रतिष्ठान वा पैठन में थी, किंतु पीछे यह धान्यकोट (जिला गुंटूर वा वर्तमान धरनीकोट) में आ गई। यहां उस के बौद्धधर्मानुयायी शासक शातकर्णी वा सातवाहन ने भव्य स्तूप, स्तंभ, तथा तोरण आदि बनवा दिए। आंध्र साम्राज्य में महासांघिकों

---

[1] विन्सेंट स्मिथ, 'दि अर्ली हिस्ट्री अव् इंडिया', पृ० ३८३
[2] रमेशचंद्र दत्त, 'सिविलिजेशन इन एंश्येंट इंडिया', भाग २, पृ० १३७

के वर्तमान रहने और उन के प्रभावशाली होने का पता हमें कार्ली तथा नासिक के गुहा-लेखों और अमरावती के शिला-लेखों से चलता है। इन की चैत्यवादी शाखा धान्यकटक महाचैत्य के ही नाम पर प्रसिद्ध थी, और उस नगर के पूर्व एवं पश्चिम की ओर वर्तमान दो पहाड़ों के अनुसार क्रमशः उन की 'पूर्व-शैलीय' तथा 'अपर-शैलीय' नामक दो उपशाखाओं का भी जन्म हुआ था, और महासांघिकों से निकली हुई ये तथा कतिपय अन्य शाखाएं भी, आगे चल कर, एक साथ 'अंधकनिकाय' कहलाई थीं। 'अंधकनिकाय' के ही अंतर्गत एक वैपुल्यवादी निकाय भी वर्तमान था जिस के संघ, बुद्ध एवं मैथुन-संबंधी क्रांतिकारी विचारों ने, समयानुसार, महायान-संप्रदाय का अंतिम रूप निर्दिष्ट किया; तथा तांत्रिक बौद्ध धर्म वा वज्रयान के आरंभ की सूचना भी दे दी थी।[1] सातवाहन के समय में प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन का भी होना बतलाया जाता है और अनुमान किया जाता है कि वे इन्हें अपना 'सुहृद्' वा मित्र समझा करते थे। नागार्जुन माध्यमिक दर्शन के रचयिता, शून्यवाद के आचार्य एवं महायान संप्रदाय के प्रमुख प्रवर्त्तक माने जाते हैं और कम से कम उत्तरदेशीय बौद्ध धर्म वालों में उन की बहुत वड़ी प्रतिष्ठा है। वास्तव में, बौद्ध धर्म व दर्शन के ये बहुत ही वड़े आप्तपुरुष थे और, उस का सच्चा अभिभावक होने के नाते, इन्हों ने ही, सर्वप्रथम, महायान-संप्रदाय को एक स्पष्ट व सुव्यवस्थित रूप दिया था, तथा इन के ही समय से मूल व विकसित बौद्ध धर्म (अर्थात् हीनयान एवं महायान संप्रदायों) अथवा महायान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में भी वादविवाद व समीक्षा की परिपाटी, पहल-पहल, चल निकली थी। इन का 'प्रज्ञापारमिता-शास्त्र' महायान संप्रदाय का ज्ञानभांडार माना जाता है। महायान संप्रदाय की एक परंपरा के अनुसार सभी मुख्य महायान सूत्र पहले किसी नागराज के महल में रक्खे हुए थे, जहां से लाकर नागार्जुन ने उन्हें, सर्वप्रथम, सर्वसाधारण में प्रकाशित किया और इस प्रकार महायान संप्रदाय की नींव डाली। जो हो, इतना निश्चित है कि इन्हों ने अपने 'प्रज्ञापारमिताशास्त्र' व 'दसभूमिविभाषाशास्त्र' नामक ग्रंथों को, क्रमशः 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' एवं 'अवतंसकसूत्र' के कुछ अध्यायों पर, भाष्यरूप में रचा था, और जैसा पहले भी कहा जा चुका है, उन में 'सद्धर्मपुंडरीकसूत्र', 'अमितायुषसूत्र', 'विमलकीर्तिसूत्र' आदि

---

[1] राहुल सांकृत्यायन, 'गंगा' का पुरातत्वांक, पृ० २१०-४

अन्य महायान सूत्रों का भी स्पष्ट उल्लेख है जिस से सिद्ध है कि नागार्जुन के पहले भी महायान संप्रदाय का अस्तित्व था, और उस के अनुसार कई सूत्र-ग्रंथों की रचना हो चुकी थी।

आंध्र व कुषाण वंशी राजाओं के अनंतर गुप्तों का साम्राज्य बढ़ते समय, बौद्ध धर्म को किसी प्रकार की विशेष सहायता नहीं मिल सकी। उस काल में हिंदू धर्म व संस्कृति का अधिक बोलवाला था और उस के पहले से भी बौद्ध धर्म के अनुगामी, परिस्थितियों के अनुसार चल कर, उन से लाभ उठाने की चेष्टा करते आ रहे थे। फिर भी आंध्र व कुषाण काल की भाँति इस समय भी बौद्धदर्शन की बड़ी उन्नति हुई। आचार्य मैत्रेयनाथ का आविर्भाव गुप्त साम्राज्य के आदिकाल में ही बतलाया जाता है। बहुत दिनों तक ये एक काल्पनिक व्यक्ति ही समझे जाते थे, किंतु बड़ी खोज के पश्चात् जापानी प्रोफ़ेसर उ-इ ने उन का समय अब २७० ई० से ले कर ३५० ई० के भीतर निश्चित किया है।[१]

मैत्रेयनाथ, असंग, व वसुबंधु

मैत्रेयनाथ योगाचार दर्शन के आचार्य, विज्ञानवाद के प्रमुख प्रचारक एवं प्रसिद्ध असंग के भी गुरु थे और इन्हों ने कई ग्रंथों की रचना की थी। योगाचार को इन्हों ने अयोध्या के निकट प्रवर्तित किया था। इन के शिष्य असंग गांधार प्रदेश (अर्थात् वर्तमान पेशावर, रावलपिंडी ज़िले) के रहने वाले थे और पहले-पहल उन्हें 'सर्वास्तिवाद' व वैभाषिक दर्शन की शिक्षा मिली थी, किंतु अयोध्या के निकट आकर वे मैत्रेयनाथ से प्रभावित हो गए और नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन की भाँति, उन्हों ने भी योगाचार को सुव्यवस्थित किया। असंग के छोटे भाई वसुबंधु भी पहले सर्वास्तिवादी थे, किंतु अपने बड़े भाई द्वारा शिक्षित हो कर ये भी योगाचार के प्रधान आचार्य बन गए। गुप्त सम्राट् बालादित्य वा कुमारगुप्त प्रथम और उस की माता ध्रुवा के वसुबंधु बड़े प्रिय थे,[२] और इन्हों ने कई ग्रंथों की रचना कर योगाचार दर्शन का और भी स्पष्टीकरण किया। अयोध्या उस समय योगाचार दर्शन के लिए केंद्र हो रही थी और उस मत के आचार्य वहां महायान सूत्रों को भी महात्मा गौतम बुद्ध के ही वचनों की प्रामाणिकता देने की जी-जान से कोशिश कर रहे थे। परिणामस्वरूप हीनयान एवं महायान के बीच उन दिनों पहले से भी घोरतर संघर्ष चलने लगा, और उन

---

[१] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म', पृ० १६९–१७०
[२] वही, पृ० १७५

के पारस्परिक वाद-विवाद के कारण इन दोनों शब्दों का अभिप्राय और भी खुलने लगा। प्रो० कीमुरा ने इस काल के कुछ ही अनंतर, अर्थात् पाँचवी ईस्वी शताब्दी के लगभग, किसी अश्वघोष का भी होना बतलाया है, जिस की कुषाण-कालीन प्रसिद्ध आचार्य अश्वघोष से भिन्नता दर्शाने के लिए वे एक 'अश्वघोष द्वितीय' नाम की रचना करते हैं। उन का कहना है कि पहला अश्वघोष 'बुद्धचरित', 'सौंदरानंद' आदि काव्यों एवं नाटकों का रचयिता व केवल महाकवि था, किंतु दूसरे ने 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' जैसे दार्शनिक ग्रंथों की रचना की थी, और वह 'भूततथताप्रतीत्यसमुत्पाद' जैसे गूढ़ सिद्धांतों का प्रवर्तक था, अतएव, अंतरंग परीक्षा के आधार पर दोनों को एक ही मान लेना उचित नहीं जान पड़ता[1]। कुषाण-कालीन वसुमित्र व अश्वघोष से ले कर पाँचवीं-छठीं ईस्वी शताब्दी तक का काल महायान धर्म के प्रसिद्ध आचार्यों का प्रधान युग रहा, और उन दिनों अधिकतर महायान धर्म के ही सिद्धांतों का प्रचार विदेशों तक में होता रहा।

सम्राट् अशोक के काल से ही, दूर-दूर तक के देशों में भी बौद्ध धर्म के फैलते जाने से, उस के अंतर्गत भिन्न-भिन्न मत व परिस्थिति के लोग सम्मिलित होते गए, इस कारण, उस बुद्धिवादी समाज के सिद्धांतों में, समयानुसार, नवीन विचारधाराओं का भी सम्मिश्रित होता जाना स्वाभाविक था। इस के सिवाय स्वयं भारतवर्ष में भी, उक्त समय के पहले से ही, दार्शनिक और धार्मिक विचार-पद्धतियों में अनेक परिवर्तन होते आ रहे थे, जिस कारण, धीरे-धीरे छः हिंदू दर्शनों की प्रधानता स्वीकृत होने लगी, और भक्तिप्रधान भागवत-संप्रदाय सब को प्रभावित करने लगा। अतएव, ऐसी दशा में, बौद्ध धर्म के लिए, नवीन हिंदू धर्म के वातावरण में, अपनी स्थिति को सँभालना आवश्यक हो गया, और परिणाम-स्वरूप नागार्जुन, वसुबंधु, आदि प्रमुख बौद्ध आचार्यों ने, विपक्ष का खंडन करते हुए भी अपने सिद्धांतों के अंतर्गत, किसी न किसी प्रकार, नवीन अपरिहार्य बातों को भी मिला लेन की नीति को अधिक पसंद किया। इस कारण हम देखते हैं कि पुराने महासांघिकों की विचारधाराएं जो, महात्मा गौतम के ही कुछ आध्यात्मिक सिद्धांतों को मूलस्रोत मान कर, कई शाखाओं तथा महायान सूत्रों के विकसित विचारों के साँचे में ढलती आ रही थीं, अंत

सिद्धांतों का विकास व दार्शनिक मत

---

[1] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म', पृ० १८०

में, महायान संप्रदाय के स्पष्ट व सुव्यवस्थित रूप में परिणत हो गई, और यह धार्मिक समाज पुरानी बातों से, आगे चल कर, इतना पृथक् हो गया कि, इस के अनुसार मार्ग दिखाने वाले महासांघिक लोग भी अब हीनयानियों की श्रेणी में गिने जाने लगे। बौद्ध धर्म के इस समय चार दार्शनिक मत प्रधान थे,- जिन्हें वैभाषिक, सौत्रांतिक, माध्यमिक व योगाचार कहा जाता था। वैभाषिकों का कहना था कि, पदार्थ और उस का ज्ञान, इन दोनों का अस्तित्व है, किंतु सौत्रांतिक इन में से केवल ज्ञान को ही सत्य मान कर ज्ञेय को उस का स्पष्टीकरण मात्र समझते थे। तौ भी उन के प्रकृति-विषयक वर्णन से स्पष्ट था कि वे ज्ञेय के बिना ज्ञान के अस्तित्व को, एक प्रकार से, असंभव सा मानते थे, और इस लिए, प्रकृति के विषय में भी उन की अर्ध-स्वीकृति लक्षित होने लगती थी। योगाचार वालों ने इस के विपरीत, एक सच्चे विज्ञानवादी की भाँति, ज्ञेय के अस्तित्व को एकदम अस्वीकार कर दिया और, इस कारण, वाह्यजगत के अधिक से अधिक केवल मिथ्या एवं बुद्धिमय सिद्ध होने से, उन का मत 'निरालंबवाद' भी कहलाने लगा। किंतु मूल बौद्ध धर्म के क्षणिकवाद को पूर्णता तक पहुँचाने में अभी कदाचित् कुछ कमी पड़ रही थी, अतएव, माध्यमिकों ने ज्ञेय की ही भाँति ज्ञान के अस्तित्व को भी स्वीकार कर 'शून्यवाद' को जन्म दिया। परंपरानुसार इन चारों में से पहले दो को हीनयान तथा शेष दो को महायान के अंतर्गत समझा जाता है।

शून्यवाद

'प्रज्ञापारमिता' सूत्रों के अनुसार, जिन किन्हीं वस्तुओं का अस्तित्व समझा जाता है वे सभी शून्यता रूप हैं, जिस का वर्णन भी नहीं किया जा सकता (सर्वधर्माणां शून्यता न सा शक्याभिलपितुम्) और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह सिद्धांत महासांघिकों के 'अनात्मा-अधर्मवाद' संबंधी कुछ विचारों का, एक प्रकार से, रूपांतर मात्र था। आचार्य नागार्जुन ने, 'प्रज्ञापारमिता' सूत्रों पर अपने 'शास्त्र' की रचना करते समय, इस विषय को और भी स्पष्ट किया, और विशद रूप दिया। उन का कहना था कि शून्यता को हम 'पुरुषशून्यता' एवं 'धर्मशून्यता' के दो भिन्न-भिन्न रूपों में समझ सकते हैं, जिन में से हीनयान में केवल पहली अथवा 'पुरुषशून्यता' पर ही विचार किया गया है, और महायान में ये दोनों ही अभीष्ट हैं; तथा इन में से 'धर्मशून्यता' की ही प्रधानता भी है। दूसरे शब्दों में हीनयान में पहले पुरुषशून्यता वा थेरवाद के 'अनात्मवाद' का ही प्रचार हुआ, और पीछे उस में धर्मशून्यता वा महासांघिकों का अधर्मवाद भी मिलाया गया, किंतु महायान में, आरंभ

से ही, धर्मशून्यता बतलाई जाने लगी थी। 'प्रज्ञापारमिता' सूत्रों की असंस्कृत शून्यता (अर्थात् वास्तविक जगत संबंधी शून्यता) संस्कृत शून्यता (अर्थात् दृश्यमान जगत संबंधी शून्यता) तथा अत्यंत शून्यता को भी उन्हों ने अपने 'अष्टादश-शून्यता-शास्त्र' द्वारा अठारह भेदों में विवृत व विस्तृत किया, और शून्यता के विषय मात्र का संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य नामी दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विवेचन किया।[1] अतएव इतने बड़े विषय का यहां सारांश मात्र देना भी एक दु:साध्य कल्पना है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं—जो कुछ दिखाई देता है वह क्षणिक है, अतएव, जो कुछ उस का ज्ञान हमें भासित हुआ करता है, वह भी वास्तव में 'प्रज्ञप्ति' मात्र है, क्योंकि पिछले क्षण में जो दृश्यमान वस्तु की अवस्था थी, सो इस क्षण में नहीं है और न इस क्षण की ही अगले क्षण में रहेगी। अतएव न किसी वस्तु का हमें ज्ञान प्राप्त हो सकता है, न कोई ज्ञान प्राप्त कर सकता है, और न कोई ज्ञान ही हो सकता है। उदाहरणस्वरूप गति को ही लीजिए। एक ही क्षण में कोई भी पदार्थ दो स्थानों में नहीं हो सकता, और न जिस मार्ग को हम तय कर चुके हैं उस पर इस समय वर्तमान हैं अथवा आगे हो सकते हैं। इस लिए मार्ग भी या तो केवल तय किए हुए को मान सकते हैं अथवा उसे जो अभी पार करना है; तीसरे की तो कल्पना तक असंभव है। इस से सिद्ध है कि गति कोई गुण नहीं और न, इसी कारण, गंता वा मार्ग ही कोई वस्तु हो सकते हैं। 'स्थिति' व 'काल' को भी हम, इसी प्रकार, दिखला सकते हैं। अतएव आचार्य नागार्जुन ने सभी धर्म को शून्य ही माना है, जिसे उन के अनुसार, न तो सत् कह सकते हैं और न असत् ही मान सकते हैं, और इसी कारण, उनका सिद्धांत 'माध्यमिक' कहला कर प्रसिद्ध है। माध्यमिक सिद्धांतों के ही आधार पर, आगे चल कर, बुद्ध पालित ने अपने 'प्रसंगवाद' तथा भावविवेक ने अपने 'स्वतंत्रवाद' के मत भी निर्धारित किए थे।

विज्ञानवाद

इसी प्रकार, मैत्रेयनाथ के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अभिसमयालंकार' और उस पर की गई हरिभद्र की टीका आदि योगाचार-संबंधी रचनाओं द्वारा हमें उन के 'विज्ञानवाद' का भी परिचय मिलता है। 'अभिसमय'

---

[1] 'माध्यमिक शास्त्र,' अध्याय २४, कारिका—जैसे,
द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥

शब्द से अभिप्राय अंतिम सिद्धि की ओर किसी रहस्यमयी साधना द्वारा अग्रसर होना वा आरोहण करना है, और यह क्रिया, क्रमशः अभ्यस्त होने के साथ ही, 'आनुपूर्वी' भी हुआ करती है। इसी भाँति, 'अलंकार' शब्द का अर्थ भी यहां, किसी अन्य ग्रंथ पर पद्यमयी टीका कर के, उस के बिखरे हुए विषयों वा विचारों में व्यवस्था वा सामंजस्य लाना है। अतएव 'अभिसमयालंकार' ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य भी, भिन्न-भिन्न महायानी ग्रंथों द्वारा उपदिष्ट चर्याओं का समन्वय कर, उस के आधार पर, एक सुव्यवस्थित सिद्धांत निर्धारित करना जान पड़ता है[1]। परंतु प्रसंगवश इस में योगाचार मत के विज्ञानवाद का दार्शनिक विवेचन भी आ जाता है जिस का अत्यंत संक्षेप रूप हम, इस प्रकार, व्यक्त कर सकते हैं—अभिसमय का अभ्यास करते समय, जिस जगत का हमें अनुभव होता रहता है वह सत्य नहीं है, बल्कि आरोपित मात्र है, क्योंकि प्रत्येक विषयस्थिति, वास्तव में, हमारी संवेदना के सूक्ष्म क्षणों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इस के सिवाय ये क्षण भी वस्तुतः किसी पंक्ति वा क्रमिक परंपरा में ही आया करते हैं, और प्रत्येक बीतने वाला क्षण, आगे आने वाले के लिए, एक प्रकार का आधार वा अल्पकालिक आलंबन बन जाया करता है। आलंबन भी वह भाव है जो, किसी समय, हमारे मस्तिष्क में, बिना किसी स्वतंत्र वस्तु की अपेक्षा किए ही, स्वयं मस्तिष्क द्वारा ही विकसित होता रहता है, और इसी को 'आकार' भी कहते हैं (आलंबन प्रकार एवाकारः सन्निविष्टा च विषयस्थितिः)। अतएव कोई भी वस्तु, किसी एक क्षण में, अनुभव होते समय तक ही, सत्य कही जा सकती है अगले क्षण में नहीं, क्योंकि, चिंतन-क्रम में, पहले का स्थान एक नवीन आकार ग्रहण कर लेता है और ऐसी दशा में किसी 'अभिनिवेश' वा संबंध की कल्पना तक भी करना भ्रम-मात्र है[2]। विज्ञानवादी, इसी लिए, बाह्यजगत को मिथ्या मानते हैं, और उन के अनुसार, सारा जगत अधिक से अधिक बुद्धिमय मात्र है, और चूंकि विज्ञानवाद की दृष्टि से बुद्धि को किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं, इस लिए, यह सिद्धांत कभी-कभी 'निरालंबवाद' भी कहलाता है। 'विज्ञानवाद' नाम, अनुभूत मानसिक क्षणों वा निमेषों की परंपरा के आधार

---

[1] तुशी, 'जर्नल एंड प्रोसीडिंग्स अव् एसियाटिक सोसायटी अव् बंगाल,' १९३०, नं० १, पृ० १२७

[2] तुशी, 'डाक्ट्रिन्स अव् मैत्रेयनाथ ऐंड असंग,' पृ० २३-४

पर रक्खा गया है, क्योंकि उसे ही विज्ञानवादी 'विज्ञान' की संज्ञा दिया करते हैं, और उसी के अनुसार व्यक्तिगत अनुभव संबंधी उक्त सिद्धांत के भेद को 'स्कंधविज्ञान' तथा उस के व्यापक समष्टि-रूप को 'आलयविज्ञान' कहा जाता है। विज्ञानवाद वा सर्वविज्ञान, वास्तव में, एक प्रकार से, मूल महासांघिकों के, 'अनादि-अनंत-विमलचित्त' वाले, सिद्धांतों पर ही बहुत कुछ आश्रित हैं और उसी का एक सुव्यवस्थित रूप भी है।[1]

दोनों में भेद व 'अभिसमय' का रहस्य

माध्यमिक और योगाचार के मुख्य आचार्यों ने महायान-संबंधी दार्शनिक विचारों को एक प्रकार से, अंतिम रूप दे दिया, क्योंकि जो कुछ भी आगे विकसित व परिवर्धित हुआ वह अधिकतर इन्हीं के सिद्धांतों पर आश्रित रहा। किंतु, जैसा ऊपर दिए गए सारांशों से पता चलेगा, इन दोनों के भी ध्येय में बहुत कुछ अंतर था। माध्यमिकों के अनुसार 'धर्म' का रूप उस के 'प्रतीत्य समुत्पन्न' होने के कारण, वास्तव में, न सत् है न असत् है। इसी लिए, उन की 'मध्यमा-प्रतिपत्' भी न तो स्वीकृति और न अस्वीकृति ही कही जा सकती है। किंतु योगाचारी उसे एक भिन्न प्रकार से स्वीकार कर लेते थे। योगाचार के अनुसार, 'शून्यता', धर्मानुभव का अंतिम ध्येय होने के कारण, 'धर्मता' के रूप में सत् कही जा सकती है। किंतु, इस से हमारे आपेक्षिक अनुभव में सदा पाए जाने वाले ग्राह्य-ग्राहक ('सब्जेक्ट' और 'आब्जेक्ट') के द्वंद्व का अभाव भी अपेक्षित है, इस लिए, इसे असत् भी मानना चाहिए। मैत्रेयनाथ के 'मध्यांतविभंग' नामक ग्रंथ की एक कारिका[2] के आधार पर इसे यों भी कह सकते हैं कि पदार्थों वा उन के सारतत्व की वास्तविक सत्ता न होने, अथवा उन के विज्ञानाभास मात्र होने के कारण, उन का ज्ञान भी 'अभूत-परिकल्प' मात्र है, जो वस्तुतः हमारी मानसिक स्थितियों की एक आदि-रहित संतान वा परंपरा के रूप में आया करता है। इस अभूत परिकल्प में, विशेष रूप से द्रष्टा व दृश्य अथवा ग्राहक व ग्राह्य का द्वैतभाव लक्षित होते रहने पर भी, किसी प्रकार के आधार का अभाव है, और यह वस्तुमात्र है (ग्राह्यग्राहकरहितं वस्तुमात्रम्)। अतएव शून्यता भी इस अभूत-

---

[1] तुशी, 'डाक्ट्रिन्स अव् मैत्रेयनाथ ऐंड असंग,' पृ० २३-४

[2] 'मध्यांतविभंग', कारिका २—

अभूत परिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।
शून्यता विद्यते तत्र तस्यामपि स विद्यते॥

परिकल्प की भावना में ही अनुभव की जा सकती है। वास्तव में अभूत-परिकल्प शून्यता वा धर्मता को, किसी आवरण के समान, आवृत किए रहता है, इस लिए, वह लक्षित नहीं हो पाती, और अभिसमय वा योगाचारी-चर्या का उद्देश्य उसी को व्यवदान वा शुद्धि द्वारा प्रकट करना समझा जाता है। आचार्य मैत्रेय के अनुसार अभूत-परिकल्प व शून्यता वा धर्मता, ये दोनों ही सत् हैं, और इन दोनों में घनिष्ठ संबंध भी है। नागार्जुन की दृष्टि में धर्मों की शून्यता वा असिद्धि का महत्व उस के तर्कसिद्ध वा युक्तिसंगत होने पर ही अधिक निर्भर है, किंतु मैत्रेय के लिए उस का एक दार्शनिक मूल्य भी है। स्थिरमति ने इस बात को इस प्रकार समझाया है कि रज्जु वा रस्सी, परिस्थिति विशेष के कारण सर्प के रूप में आभासित होने से ही शून्य कही जा सकती है। वह वास्तव में शून्य नहीं (रज्जुः शून्या सर्पत्वभावेन, तत्स्वभावत्वाभावात् सर्वकालं शून्या न तु रज्जु स्वभावेन)। दूसरे शब्दों में धर्मता स्वयं नित्य एवं अपरिवर्तनशील है, किंतु वह अभूत-परिकल्प से ढकी हुई है, और अभूत-परिकल्प के दब जाने पर वह अपने शुद्ध रूप में प्रकट हो जाती है। परंतु दबाए जाने योग्य होने पर भी अभूत-परिकल्प सत् है, क्योंकि वह अनादि भी है और शून्यता वा धर्मता का अनुभव भी इसी के द्वारा संभव है।[1] धर्मता व अभूत-परिकल्प 'महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र' के क्रमशः चित्त व अविद्या के समानार्थक शब्द हैं।

शून्यवाद के आचार्य नागार्जुन ने, अपने 'माध्यमिक शास्त्र' के अनुसार, सर्व-शून्यता को, निषेध की दृष्टि से, (अनिरोध, अनुत्पाद आदि विशेषण द्वारा) एक प्रकार की, अनिर्वचनीयता प्रदान की थी, किंतु उन्हों ने, अपने 'धर्म-धातुशास्त्र' नामक ग्रंथ में, उसी वस्तु को मूलतः शुद्ध व नित्य भी ठहराया था। इस दूसरे प्रकार के सिद्धांत, मूल महासांघिकों के ही समय से, किसी न किसी रूप में प्रकट होते आ रहे थे, और नागार्जुन ने इस विषय को भी औरों की ही भाँति, केवल स्पष्ट व निश्चित मात्र कर दिया था। मूल महासांघिकों का कहना था कि मानव चित्त अपने मलरूप में स्वभावतः शुद्ध है; इस में दुःख वा क्लेश आदि की अशुद्धियां पीछे से जगने लग जाती हैं। उन के इसी सिद्धांत को 'विमलचित्त स्वभाव' कहा जाता

त्रिकायवाद व बोधिसत्व

[1] तुशी, 'दि डाक्ट्रिन्स अव् मैत्रेयनाथ ऐंड असंग,' पृ० ३२–५

है जिस के विषय में प्रसंगवश हम ने कुछ उल्लेख ऊपर भी किया है। यह धारणा, आरंभ में, व्यक्तिगत चित्त के संबंध में ही की जाती रही, किंतु, आगे चल कर, यह समष्टि चित्त का भी बोधक हो गई और लोकोत्तरवादी महासंघिकों ने इसे, अंत में, उत्तरलौकिक धर्म का रूप दे दिया। पारमार्थिक दृष्टि से वे यों कहने लगे कि सब धर्म, वास्तव में, अनादि व अनंत हैं। 'प्रज्ञापारमिता' एवं 'सद्धर्मपुंडरीक' आदि महायान सूत्रों में भी फिर यही भावना क्रमशः 'स्वभावनिर्वाण' 'धर्मतथता' वा 'धर्मस्वभावनित्यम्' एवं 'धर्म स्थिति' व 'धर्मनियामता' कहला कर व्यक्त हुई, और नागार्जुन ने इसे ही 'धर्मधातु' नाम से अभिहित किया।[1] इस विमलचित्त स्वभाव की ही कल्पना से मिलता-जुलता विज्ञान-वादियों का 'आलय-विज्ञान' माना जाता है और यह भी अनुमान किया जाता है, कि इसी के आधार पर 'त्रिकायवाद' की सृष्टि की गई थी। महात्मा गौतम बुद्ध की वाणी पहले धर्मकाय के रूप में समझी जाती थी, परंतु महायानी पीछे धर्मकाय को स्वयं बुद्ध का स्वरूप मानने लगे। उन का कहना था कि बुद्ध स्वयं मूर्तिमान धर्म है, जो तुषित स्वर्ग में निवास करता है, और वह अपने अलौकिक गुणों द्वारा, स्वयं जन्म न ले कर भी, जगत के हितार्थ अपना रूपकाय वा निर्माणकाय भेजा करता है, और, इस प्रकार, उस के ही संभोगकाय वा पार्थिव शरीर द्वारा सब का कल्याण हुआ करता है। भक्तिवाद वा उस प्रकार के अन्य सिद्धांतों का अधिक प्रचार हो जाने पर बौद्ध लोग धीरे-धीरे महात्मा गौतम बुद्ध की मूर्तियां बना कर उन की पूजा भी करने लगे। फिर तो बुद्ध के जीवन से संबद्ध पवित्र स्थानों की तीर्थयात्रा व उन की प्रतिमाओं का जुलूस भी बौद्धों के धार्मिक कर्तव्यों का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। वह बौद्ध धर्म जो, कई बातों में, औपनिषदिक सिद्धांतों का अनुसरण कर, आरंभ में, प्रत्येक व्यक्ति को संपूर्ण तृष्णाओं से उन्मुक्त कर उसे निर्वाण के लिए अर्हत्व प्रदान करने का ही आदर्श रखता था, उक्त नवीन वातावरण के अनुसार, अब क्रमशः उसे करुणकांत भगवान् की भाँति दुःख निवारण वा लोकसेवा के लिए भी योग्य बना कर अपने सामने बोधिसत्व का आदर्श रखने लगा। बोधिसत्व का आदर्श मानव-जीवन का अंतिम व सर्वोच्च आदर्श था, इस लिए, स्वभावतः उस में सभी उच्च से उच्च व श्रेष्ठ गुणों का आरोप किया गया, और उस की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुसार श्रेणियां बना कर,

[1] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज़्म', पृ० ८२-३

तदनुसार, अंत में, सर्वश्रेष्ठ बोधिसत्वों में अवलोकितेश्वर, अमिताभ एवं वज्रपाणि, आदि की कल्पना की गई तथा उन्हें देवतुल्य व अलौकिक गुणसंपन्न मान कर उन की पूजा भी की जाने लगी।

'निर्वाण' का रूप

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, महात्मा गौतम बुद्ध ने जिन चार 'आर्यसत्यानि' के ज्ञान का महत्व अपने समय के लोगों को बतलाया था उन में 'दुःखनिरोध' वा 'निव्वाण' नामक सत्य कदाचित् सब से बढ़ कर था क्योंकि वही, बुद्ध के अनुसार, सब का अंतिम ध्येय है और उसी के लिए सब को प्रयत्न भी करना चाहिए। परंतु, परिस्थिति के उपयुक्त न होने के कारण, उन्हों ने, अन्य दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या न करने की ही भाँति, इस के रहस्य का भी उद्घाटन उस समय रोक रक्खा। फलतः 'निर्वाण' शब्द अथवा उस स्थिति का वास्तविक अभिप्राय भी महायान-संप्रदाय द्वारा दार्शनिक विवेचन की पद्धति के निकाले जाने पर ही खुलने लगा। फिर भी निर्वाण की वास्तविकता का ज्ञान आज भी भिन्न-भिन्न प्रकार का हुआ करता है, और इसी लिए, इस विषय में अनेक विद्वानों में बहुत कुछ मतभेद है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ उच्छिन्न, अवसन्न वा नष्ट होना समझा जाता है और सर्वसाधारण की धारणा है कि बुद्ध का ध्येय भी वास्तव में निषेधार्थक ही रहा होगा। परंतु मैक्समूलर इसे, सत्ता की निर्मूलता की जगह, उस की निर्वृत्ति वा परिपाक समझते हैं, और चाइल्डर्स का कहना है कि यह एक पूर्ण संत की अवस्था का नाम है, जिस में, पंच स्कंधों के वर्तमान रहते हुए भी, सत्ता से आबद्ध रखने वाली तृष्णा का उच्छेद हो जाता है। इसी प्रकार, राइज़ डेविड्ज़ के मत से, निर्वाण उस मानसिक स्थिति को कहते हैं जो नितांत निष्पाप व शांत होती है, और जो बौद्ध धर्म की दृष्टि से, पूर्ण शांति, कल्याण एवं विवेक का द्योतक है। कीथ के अनुसार निर्वाण की व्याख्या 'चत्वारि आर्यसत्यानि' के सहज ज्ञान द्वारा ही की जानी चाहिए, क्योंकि उसी के अनुसार पुनर्जन्म का भय दूर किया जा सकता है और ओल्डनबर्ग का विचार है, कि वास्तव में, 'निर्वाण' अंतिम नाश के लिए ही, सर्वप्रथम, प्रयुक्त हुआ था। इस में नित्यता का भाव जोड़ने का प्रयत्न पीछे से किया गया है। 'धम्म-पद' ने निर्वाण का तीन प्रकार से वर्णन किया है, अर्थात् एक स्थान पर उसे इस जन्म में ही अनुभूत मानसिक अवस्था माना गया है, तो दूसरी जगह कहा गया है कि यह मृत्यु के होने पर ही प्राप्त होती है, और तीसरे प्रकार से इसे किसी स्वर्गतुल्य देश के रूप में भी समझा गया

है।[१] परंतु महात्मा गौतम बुद्ध ने, जान पड़ता है, इसे, सर्वप्रथम, तृष्णा के अंतिम उच्छेद की उस अवस्था को माना था जिस में पुनर्जन्म का अंकुर तक नहीं रह जाता। निर्वाण का अभिप्राय, इसी लिए, बहुत कुछ निषेधार्थक रूप में ही पहले समझा जाता रहा और इस का वर्णन भी अधिकतर वैसे ही शब्दों द्वारा हुआ। जैसे, एक स्थल पर कहा गया है कि वह स्थिति "न तो गति है न अगति है न स्थिति है न च्युति है, बल्कि दुःखों का वह अंत अप्रतिष्ठ अपरिवर्तनशील एवं अवलंब रहित है।[२]" वैसे ही वहां "न तो कोई जन्म ग्रहण करता है न वृद्ध होता है और न, एक स्थान के लिए, दूसरा स्थान छोड़ कर जाया करता है[३]" और "वहां न तो जल है न पृथ्वी है न ताप है न वायु है; वहां न तो तारे चमकते हैं न सूर्य प्रकाशमान है, न चंद्रमा है और न अंधकार है[४]" आदि वर्णनों के भी उल्लेख हैं। परंतु धीरे-धीरे इस की परिभाषा में प्रत्यक्ष अंश भी सम्मिलित होने लगे, और इस प्रकार, निर्वाण, व्यक्तिगत मानसिक अपवर्ग वा परमानंद से हो कर, क्रमशः, उच्चतम ज्ञान वा विश्वात्मक चेतना तक पहुँचा; और अंत में, उस का व्यवहार उस स्वर्गीय देश वा पद के लिए भी होने लगा जहां पहुँच कर भिक्खुगण, अपने पूर्वजीवन की पुण्य-राशि के अनुसार, आनंद का अनुभव किया करेंगे।[५] साधारण प्रकार से, इसे अब भी हम लोग उस मानसिक आनंद की दशा के ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, जो कुत्सित वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेने पर उत्पन्न होती है, जो वर्तमान जीवन में ही उपलभ्य है, और जिस का अंत मृत्यु के आने पर भी नहीं होता।[६]

---

[१] 'धम्मपदं' (महाबोधि-ग्रंथमाला संस्करण) गाथा संख्या २३, ३२, ७५, १३४, १८४, २०३, २२६, २८३, २८५, २८९, ३४४, २६९ व २७२

[२] 'उदान', ८, १—'न एव अगतिं वदामि न गतिं न थितिं न चुतिं न उपपत्तिं, अप्पतिट्ठं अप्पवत्तं अनारम्मणं एव तं, एस एव अंतो दुक्खस्साति।'

[३] 'संयुक्तनिकाय,' १६, ५३—यत्थ . . . न जायति न जीयति न मीयति न चवति, आदि।

[४] 'उदान', १, ९—यत्थ आयोच पठवी वायो न गाधति, न तत्थ सुक्का जोतंति, अदिच्चो नप्पकासति, न तत्थ चंडिमा भाति, तमो तत्थ न विज्जति।' (इस अवतरण की तुलना में उपनिषदों के 'न तत्र सूर्यो भाति, न चंद्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः' आदि का भी उल्लेख किया जा सकता है।

[५] हरिसिंह गौड़, 'दि स्पिरिट अव् बुधिज्म', पृ० ३२०–१

[६] वही, पृ० ३३३

(४)

महायान संप्रदाय के मुख्य सिद्धांतों का मूल, महात्मा गौतम बुद्ध के प्रारंभिक उपदेशों से ले कर उन के द्वारा की गई धर्मचर्चा आदि तक में सफलता-पूर्वक ढूँढा जा सकता है, किंतु जैसा ऊपर दिए गए विवरणों से प्रकट होगा, उन के समय में इस के अंकुरित वा विकसित होने के लिए परिस्थिति उपयुक्त न थी, और उन के परिनिर्वाण के अनंतर, सम्राट् अशोक द्वारा निमंत्रित तृतीय संगीति के समय तक यह महासांघिकों जैसे सुधारवादी भिक्खुओं के ही सीमित वर्ग में अधिकतर अप्रत्यक्ष रूप से पनपता व सींचा जाता रहा। इस काल के अंतर्गत इस के प्रवर्तक व अनुयायी प्रचारकों को न केवल मूल थेरवादी लोगों का ही सामना करना पड़ता था, बल्कि अपने विचारों के पूर्णरूप से परिष्कृत न होने के कारण, उन की मंडली में भी बहुधा विचार-विभिन्नता उत्पन्न हो जाती थी, और उप-शाखाएं बना करती थीं। फिर भी इसी समय के भीतर उन की भिन्न-भिन्न रचनाओं की परंपरा में महायान सूत्रों का आरंभ हो गया और वैशाली की संगीति के अनंतर, थेरवादियों द्वारा मगध का परित्याग कर देने के कारण, उन के मुख्य प्रतिद्वंद्वियों की संख्या क्रमशः घटने लगी और भीतरी संघर्ष एक प्रकार से उत्कर्ष का कारण बन गया। सम्राट् अशोक की तृतीय संगीति थेरवादी सिद्धांतों के स्पष्टीकरण की अंतिम सीमा समझी जाती है, पर वास्तव में, वह नवीन विकसित बौद्ध संप्रदाय के लिए भी उपक्रम का एक महत्वपूर्ण अवसर सिद्ध हुई। उस काल के अनंतर अश्वघोष, अथवा निश्चित रूप से नागार्जुन के समय तक, अर्थात् मोटे तौर से दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व से लेकर तीसरी शताब्दी ईस्वी पीछे तक के समय में, महायान संप्रदाय अपने प्रारंभिक रूप में बहुत कुछ स्पष्ट हो गया, और उस के मुख्य-मुख्य महायान सूत्रों की भी रचना पूर्ण हो गई। परंतु इस महायान-सूत्रकाल तक उस मत के प्रचारक अभी अपने विचारों को प्रकाश में लाकर उन्हें स्पष्ट कर रहे थे। इसी कारण, 'महायान' शब्द का तात्पर्य भी उस काल तक, उन के वास्तविक सिद्धांतों के प्रारंभिक विकास के रूप में ही समझना चाहिए। नागार्जुन के समय के पहले यह शब्द विपक्षियों के मत का निराकरण करने में प्रयुक्त नहीं होता था। यह भाव, सर्वप्रथम, इस आचार्य द्वारा अन्य सिद्धांतों की समीक्षा करने की पद्धति चलाए जाने पर ही, व्यक्त हुआ, और तब से मुख्य-मुख्य आचार्यों

महायान का क्रमिक विकास

का काल समाप्त होते-होते, मोटे तौर पर सातवीं ईस्वी शताब्दी तक, इस की बड़ी धूम रही। सातवीं शताब्दी के पीछे, नालंदा विश्वविद्यालय के अत्यंत प्रसिद्ध हो जाने पर, आचार्यों के व्यक्तिगत महत्व में कमी पड़ने लगी और महायान संप्रदाय वाले अब, अपने मत को स्पष्ट करने वा विपक्षियों के सिद्धांतों की समीक्षा करने तक ही चुप न रह कर, अपनी बातों को महात्मा गौतम बुद्ध द्वारा प्रचलित व प्रचारित धर्म का एकमात्र प्रतिरूप बतलाने लगे। प्रो० कीमुरा ने इस काल को 'नालंदा-काल' कहा है और इस की अवधि सातवीं शताब्दी से ले कर ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी तक माना है।[1]

महायान बनाम हीनयान

महायान के सिद्धांतों का सारांश समझ लेने पर हम उन की तुलना हीनयान के मुख्य-मुख्य विचारों के साथ सफलता-पूर्वक कर सकते हैं। हीनयान वालों का ध्यान पहले-पहल विशेष कर सर्वसाधारण के भोजन, सदाचार एवं भिक्खुओं के जीवन-यापन-संबंधी नियमों के निश्चित करने की ओर ही आकृष्ट रहता था, और उन का अंतिम ध्येय भी जरा-मरण व जन्म से मुक्त होने की योग्यता वा अर्हत्व प्राप्त करना था। इस अर्हत्व की तीन अंतिम श्रेणियां वा अवस्थाएं क्रमशः 'स्रोतापत्ति,' 'सकृदागामी' व 'अनागामी' कहलाती थीं, और इन के अनंतर अर्हत् हो जाने पर, सभी प्रकार के दुःखों का निवारण हो जाना भी समझा जाता था। हीनयानी बुद्ध की कोई पूजा नहीं करते थे। वे केवल बोधिवृक्ष को ही मानते थे, और 'धम्म-चक्कपवत्तन' के लिए एक ऐसा चिह्न बनाते थे जिस में, विपरीत दिशाओं की ओर मुंह फेर कर बैठे हुए, दो मृगों की पीठ पर एक चक्र रक्खा रहता था। इसी प्रकार महात्मा गौतम बुद्ध के जीवन से संबंध रखने वाली भिन्न-भिन्न घटनाओं के चित्रों द्वारा वे अपने मठों को अलंकृत भी करते थे।[2] फिर भी उन की दृष्टि में, बुद्ध का बुद्धत्व एक व्यक्तिगत वस्तु था, जिसे, उन की सहायता के बिना ही, कोई मनुष्य, उन के आदर्श का अनुसरण मात्र कर के, विनय के नियमों का पालन करता हुआ, स्वयं भी प्राप्त कर सकता है। उस के लिए पूर्ण वासनाक्षय और त्याग व वैराग्य होना चाहिए, जो कठिन व्रत और नियमित साधना द्वारा ही संभव हैं। इस के विपरीत महायान संप्रदाय का ध्येय स्वयं पुरुषार्थ कर के सारे संसार

---

[1] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज्म', पृ० १८३
[2] हरप्रसाद शास्त्री, 'अद्वयवज्रसंग्रह', भूमिका, पृ० १७

१२

से बुद्धत्व प्राप्त कराना है। यह एक महान् आयोजन है, जिस के द्वारा सभी का कल्याण अभीष्ट है। 'जिस प्रकार आकाश में असंख्य व अपरिमित वस्तुओं के लिए स्थान रहता है, उसी प्रकार महायान में भी अगणित प्राणियों के लिए अवकाश बना हुआ है।'[१] इस में निर्वाण के लिए केवल अर्हत्व प्राप्त कर लेने से ही काम नहीं चलता इस के लिए बोधिसत्व भी होना आवश्यक है, जो दसभूमियों द्वारा साधना करता हुआ, स्वयं बुद्ध के प्रायः समान ही पूर्णता प्राप्त कर, प्राणियों का कल्याण करने पर कटिवद्ध रहा करता है। महायानी, महात्मा गौतम बुद्ध को साधारण ऐतिहासिक मनुष्य मात्र न मान कर, उन्हें ईश्वरत्व भी प्रदान करते थे और उन का अनुग्रह लाभ करने के निमित्त, उन की मूर्तियों की पूजा तथा उन के नाम का स्मरण भी किया करते थे। उन में, हिंदुओं के समान, देवी-देवता तुल्य बोधिसत्वों का पूजोपचार भी बहुत लोकप्रिय था, और ऐसी बातों को वे हीनयानियों के कष्टसाध्य व्रतों व साधनाओं से बहुत सुगम व स्वाभाविक समझते थे। हीनयान की कोरी ज्ञान-प्रधानता व संकीर्णता महायानियों को पसंद न थी, और वे भक्ति एवं सामाजिक उदारता को सब से बड़ा महत्व दिया करते थे। हीनयानी, तपस्वी हो कर भी, निष्क्रिय व निश्चेष्ट था, किंतु महायानी शरणागत-परायण रह कर भी लोकोपकार के लिए सन्नद्ध रहता था। हीनयान में महात्मा गौतम बुद्ध के वचनों का प्रायः अक्षरशः पालन करना आवश्यक था, परंतु महायान उन के भावार्थ पर ही अधिक विश्वास करता था।

कहा जाता है कि महात्मा गौतम बुद्ध ने अपने मत के लिए केवल पाँच सौ वर्षों तक ही स्थायी रूप से प्रचलित रहना बतलाया था।[२] किंतु बात ऐसी न हुई, और बौद्ध

बौद्ध धर्म का विस्तार व परिणाम

धर्म किसी न किसी रूप में अनेक देशों के मानव समाज में आज भी जीवित है। चीन देश में बौद्ध धर्म का प्रवेश लगभग २०० ई० पू० में हुआ था, जब कि कुछ बौद्ध ग्रंथ, पहले-पहल, कदाचित् काश्मीर के मार्ग से चीन सम्राट् के पास पहुँचे थे। उस के अनंतर किसी दूसरे सम्राट् ने ६२ ई० में कुछ और भी ग्रंथ मँगवाए और, उस समय से प्रचलित होता हुआ,

---

[१] 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र,' बिब्लिओथिका इंडिका संस्करण, पृ० २४--'यथाकाशे अप्रमेयाणामसंख्येयानां सत्त्वानामवकाशः एवमेव भगवन्नस्मिन् याने अप्रमेयाणामसंख्येयानां सत्त्वानामवकाशः।'

[२] हरिसिंह गौड़, 'दि स्पिरिट अव् बुधिज़्म', पृ० ४५३

बौद्ध धर्म चौथी ईस्वी शताब्दी तक वहां का राजधर्म बन गया। चीन देश से यह धर्म कोरिया की ओर सन् ३७२ ई० में बढ़ गया और वहां से जापान सन् ५३२ ई० में गया। जावा, कोचीन चाइना, फ़ारमोसा, मंगोलिया, आदि देशों में यह चौथी से लेकर पाँचवीं ईस्वी शताब्दी तक फैला था और काबुल से हो कर यह यारक़ंद, बल्ख़, बुख़ारा तथा अन्य उधर के देशों में पहुँचा था। नेपाल में भी इस का प्रवेश काफ़ी पहले हुआ था, किंतु पूर्णरूप से इसे वहां के लोगों ने छठी ईस्वी शताब्दी में अपनाया, और तिब्बत के सर्वप्रथम बौद्ध महाराजा ने ६३२ ईस्वी में भारत से धर्मग्रंथ मंगाए[1], इसी समय के लगभग, प्रायः ६३८ ईस्वी में, यह धर्म स्याम देश भी पहुँचा था, और उस के पहले ही लंका से ब्रह्मा तक भी जा चुका था। परंतु इन सभी देशों में बौद्ध धर्म एक ही रूप में नहीं प्रचलित हुआ। उत्तर के देशों, अर्थात् चीन, जापान आदि में इस के महायान संप्रदाय का प्रचार हुआ और दक्षिण के जावा, सुमात्रा आदि के टापुओं में भी यह उसी रूप में पहुँचा, किंतु अन्य दक्षिण के देशों में इस के हीनयानी रूप का ही संदेश जा सका और आज भी उपर्युक्त सभी स्थानों में इस का प्रचार व प्रभाव इसी नियम के अनुसार है। पाश्चात्य विद्वान् इसी लिए बहुधा महायान को 'उत्तरदेशीय' बौद्ध धर्म और हीनयान को 'दक्षिणदेशीय' बौद्ध धर्म भी कहते आए हैं।

भारत में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने तथा यहां के बौद्ध तीर्थों में भ्रमण करने के उद्देश्य से यहां पर समय-समय पर अनेक विदेशी आया करते थे, जिन में से फ़ाहियान (सन् ३९९–४१३ ई०) तथा हुएनसांग (सन् ६२९–६४५ ई०) नामक चीनी यात्रियों के उल्लेख अनेक इतिहास ग्रंथों में पाए जाते हैं। विदेशों में क्रमशः फैलते जाने पर भी बौद्धधर्म अपने मूलस्थान अर्थात् भारतवर्ष में, समयानुसार, बराबर क्षीण व निर्बल होता गया और सातवीं-आठवीं ईस्वी शताब्दी तक उसे कई प्रकार के विपक्षियों ने हतोत्साह सा बना दिया। प्रायः इसी समय इस के अंतर्गत, तंत्रवाद के प्रभावानुसार, मंत्रयान, वज्रयान, आदि की भी सृष्टि होने लगी और इस के अनुयायियों की ओर सर्वसाधारण संदेह एवं घृणा की दृष्टि से देखने लगे।

सातवीं ईस्वी शताब्दी और उस के पीछे आने वाले दिन, भारत में, संपूर्ण बौद्ध

---

[1] रमेशचंद्र दत्त, 'सिविलिज़ेशन इन ऐंश्येंट इंडिया,' भाग १, पृ० ३७४

धर्म के लिए अशुभ-सूचक सिद्ध हुए। इस कारण, महायान-संप्रदाय का, इस के आगे विकास न हो कर, यहां पर, सदा ह्रास ही होता गया और यह, परिस्थिति के अनुसार, अपना रंग बदलता हुआ, अंत में, हिंदू धर्म के नए रूप में बहुत कुछ अंतर्लीन हो गया। इस के अवशेष अंश में इतने विकार भर गए जिन का पहचानना भी कठिन हो गया। उदाहरण के लिए, आचार्य नागार्जुन ने, अपने समय के प्रचलित भागवत धर्म से प्रभावित हो कर, बौद्ध धर्म को, साधना की दृष्टि से, दो भिन्न मार्गों में विभक्त कर, उन के नाम 'कठिनमार्ग' और 'सहजमार्ग' रक्खे थे। पहले के अंतर्गत बौद्धों द्वारा स्वीकृत सभी मार्ग थे। दूसरे में, बुद्ध के केवल नाम स्मरण करने को ही स्थान दिया था। उन का कहना था कि अपने मन में पूर्ण शांति लाने के लिए श्रद्धा के साथ बुद्धों की पूजा करना तथा उन के नामों का स्मरण करना नितांत आवश्यक है।[1] इस क्रिया को वे गुह्योपदेश का अंश मानते थे, और सर्वसाधारण के लिए, उन की दृष्टि से, इस का बहुत बड़ा महत्व था। समय पाकर इस 'सहजमार्ग' या 'सहजयान' का प्रचार बढ़ने लगा और असंग एवं वसुबंधु के समय, अर्थात् चौथी शताब्दी के अंत तक, सर्व साधारण, तथा सुशिक्षित लोगों में भी, यह 'नामवाद' के रूप में अत्यंत लोकप्रिय हो चला। गौतम बुद्ध के नाम का स्मरण करने का अभ्यास कम कर के लोगों ने किसी भी बुद्ध का, विशेष रूप से, अमिताभ बुद्ध का ही नाम जपना आरंभ कर दिया। इधर, अलौकिक शक्तिसंपन्न महात्मा बुद्ध के वचनों का पारायण भी किया जाता रहा, और लोगों का विश्वास रहा कि, उन के अनुसार व्यवहार करने के ही समान, उन का बहुधा स्मरण करते रहना भी पुण्यप्रद व श्रेयस्कर होगा। उन के नाम को जपते रहने से रोग, भय, अथवा भूतादि से भी रक्षा हो सकेगी। परंतु लंबे वाक्यों को कंठस्थ रखना कुछ असुविधा-जनक था, अतएव उन के अनुसार सूत्रों की रचना करना तथा आगे चल कर उन से भी छोटी धारणियों का बनाना आरंभ हुआ। अंत में, यह परंपरा यहां तक बढ़ गई कि भक्तों ने 'मंजुश्री नाम संगीति' के कहे अनुसार सभी स्वर और व्यंजन वर्णों को मंत्र क़रार दिया; और अब 'ओं' और 'स्वाहा' लगा कर चाहे जो भी मंत्र बनाया जा सकता था, बशर्ते कि उस के कुछ अनुयायी हों।[2]

ह्रास के लक्षण

---

[1] कीमुरा, 'ओरिजिन अव् महायान बुधिज्म,' पृ० २०
[2] राहुल सांकृत्यायन, 'गंगा' का पुरातत्त्वांक,' पृ० २१५

किंतु मंत्र भी आखिर किसी भाव का केवल संकेत वा प्रतिरूप था, अतएव, समयानुसार, उसे और भी सूक्ष्मरूप देने के उद्देश्य से, उस के आदि अक्षर को ही बीजरूप समझने की परिपाटी चल निकली और, पंच स्कंधों के भावों को वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसंभव, अमिताभ एवं अमोघ सिद्धि के रूपों में पूजने की प्रथा के अनुसार, अनेक देवी-देवताओं की भी सृष्टि हो गई, और बौद्ध धर्म के मूल प्रवर्तक गौतम बुद्ध, क्रमशः विस्तृत होने लगे।[1] मंत्रयान अथवा सहजयान के अंतिम रूप, अंध-विश्वासों के बढ़ जाने से, पीछे इतने विकृत व विचित्र हो गए कि उन्हें मूल बौद्ध धर्म से विकसित हुआ समझना अन्याय कहा जा सकता है। फिर भी चीन, जापान, तिब्बत, आदि के बौद्धों ने उन्हें, कदाचित् आवश्यकता से भी अधिक महत्व दिया और उन के कुछ प्रदेशों में तो ऐसे मत ही शुद्ध बौद्ध धर्म के रूप में माने गए।

'नालंदा-काल' के आरंभ में ही योगाचारी मत अयोध्या से उत्पन्न हो कर क्रमशः दक्षिण-पूर्व की ओर फैलता आ रहा था और, इसी प्रकार, माध्यमिक मत भी आंध्र देश में उदय हो कर उत्तरी एवं मध्य-भारत की ओर बढ़ता आ रहा था और इन दोनों का समागम नालंदा के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में हुआ, और परिणाम-स्वरूप बौद्ध साहित्य व बौद्ध संस्कृति का वह स्थान केंद्र-सा बन गया। योगाचार व माध्यमिक सिद्धांतों के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त वहां पर एक ही साथ, अश्वघोष द्वितीय के 'भूततथतावाद' एवं नागाबोधि के मंत्रयान तथा हीनयान की भी पूरी चर्चा हुआ करती थी, और बहुत से बौद्ध धर्म के, प्रसिद्ध विद्वान् वहां आकर एक साथ रहा करते थे। ये लोग अपने-अपने विचारों की विभिन्नता के कारण, मतभेद रखते हुए भी अधिकतर महायान संप्रदाय की अभिवृद्धि की ओर ही दत्तचित्त थे और विपक्षियों का सामना करते समय ये सभी सहमत हो जाया करते थे। इन विद्वानों में नागार्जुन के अनुयायी भावविवेक व शांतिदेव तथा योगाचारी दिङ्नाग, शीलभद्र व धर्मकीर्ति के नाम विशष-रूप से उल्लेख-योग्य हैं। इस नालंदा-काल से ही अंतर्गत हमें उन प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों का भी पता चलता है जिन में से कुछ की संस्कृति व अपभ्रंश रचनाएं आज भी उपलब्ध हैं, और जिन की रचना पद्धति एवं बहुत कुछ सिद्धांतों तक में भी हमें हिंदी साहित्य की संत-परंपरा के मूल स्रोत का आभास मिलता है। परंतु सिद्धों

उपसंहार

---

[1] हरप्रसाद शास्त्री, 'अद्वयवज्रसंग्रह', भूमिका, पृ० २९

अथवा, इस दृष्टि से उन के अनुयायी तुल्य, नाथपंथियों की प्राप्त रचनाओं और उन के भिन्न-भिन्न सिद्धांतों की चर्चा के लिए एक अलग लेख आवश्यक होगा। यहां यही कहा जा सकता है कि नालंदा विश्वविद्यालय के समय में बहुत कुछ शक्ति व सहायता प्राप्त करते रहने पर भी बौद्ध धर्म उस समय की परिस्थिति का सामना सफलतापूर्वक नहीं कर सका और अंत में भारत के तुर्कों के हाथ में जाने के समय से, अर्थात् १२वीं शताब्दी की समाप्ति के लगभग, इस की घोर अवनति आरंभ हुई और बंगाल, उड़ीसा तथा दक्षिण भारत में, किसी न किसी प्रकार कुछ काल तक ठहरते रहने पर भी तेरहवीं चौदहवीं ईस्वी शताब्दियों तक यह विलुप्त व रूपांतरित हो गया। वर्तमान काल में इस के पुनरुत्थान के शुभ लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं किंतु इस के भावी रूप वा शक्ति का निरूपण करना अभी कल्पना-मात्र होगा।

स्फुट प्रसंग

मधुमालती नामक दो अन्य रचनाएं

[लेखक--श्रीयुत अगरचंद्र नाहटा]

हिंदुस्तानी के गत अप्रैल के अंक में श्रीयुत व्रजरत्नदास जी का 'मंझन-कृत मधुमालती' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। उस में सुकवि मंझन कृत 'मधुमालती' का रचना-काल वि० सं० १६५ के लगभग बतलाया गया है (जो कि विचारणीय है)। अतः सहज ही में यह शंका उठती है कि जायसी के सुप्रसिद्ध 'पद्मावत' में उल्लिखित 'मधुमालती' यह न होकर अन्य किसी की रचना होनी चाहिए। फलतः इस विषय में विशेष अन्वेषण करने पर हमें इसी नाम के दो अन्य ग्रंथों का पता लगा है; उन्हीं का संक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया जाता है।

इन दो ग्रंथों में से पहला है चतुर्भुजदास कृत। इस का प्रथम परिचय मुझे बंबई निवासी श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई से प्राप्त हुआ। पीछे उन के प्रशस्ति-संग्रह में मुझे उस की आदि तथा अंत की प्रशस्ति भी मिल गई।

दूसरे ग्रंथ का कवि अज्ञात है। इस का प्रथम परिचय मुझे गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी द्वारा प्रकाशित "कवीश्वर दलपतराय हस्तलिखित पुस्तक संग्रहनी सूची" में मिला।

मुझे खेद है कि वर्नाक्यूलर सोसाइटी वाली प्रति प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न हो सकी। किंतु अन्य स्थानों से मुझे प्रतियां देखने को मिल गईं। फलतः उन्हीं के आधार पर इन दो ग्रंथों का परिचय दिया जा रहा है।

(१) चतुरभुजदास कृत 'मधुमालती' चौपाई

ये कवि कायस्थ जाति के निगम कुल में उत्पन्न हुए थे। नाथा के पुत्र भैयाराम इन के पिता थे, ऐसा इन्हों ने स्वयं अपने ग्रंथ की प्रशस्ति में लिखा है। इस कृति में शृंगार

रस की प्रधानता है। इस की अब तक जितनी प्रतियां हमारे जानने में आई हैं वे इस प्रकार हैं:—

१—श्रीजिन कृपाचंद्र सूरि ज्ञानभंडार (बीकानेर) की प्रति। यह प्रति २६ पत्रों की है। अंतिम पत्र कटा हुआ होने के कारण ८५० वीं से ८९३ तक की गाथाएं खंडित हो गई हैं। आदि और अंत का उपयोगी अंश यहां उद्धृत किया जाता है:—

आदि।

श्री गणेशायनमः॥ अथ मधुमालती री चौपाई लिख्यते॥

दोहा॥ अलख निरंजन चित धरूं, समरी शारद माय।
कथा कहुं मधुमालती, निज गुरु तणै पसाय॥१॥

चौपाई॥ विधि विरचि ताके वर पाउं। शंकर सुत गणेश मनाउं।
चातुर सहचरि सहित रीझाउं। मधुमालती मनोहर गाउं॥२॥
लीलावती ललित इक देशा। चन्द्रसेन तिहां सुभट नरेशा।
सुभग धाम धज गगन प्रवेशा। गढ मढ मन्दिर रचे महेशा॥३॥
मंत्री बुद्धि पराक्रम तांम। तारणसाह तास को नाम।
निश दिन सांमि धरम सुं काम। नृप न तजै घड़ी पल जाम॥७॥
नृप के गृह अंतेउरि नारी। संतति इक मालती कुमारी।
वरणुं कहा ज रूप अपछरा। मानु उर्व्वशी लियो अवतरा॥८॥
तारण साह सुघड़ गुण सारा। इक त्रीया तसु इक कुमारा।
ताकौ नाम मनोहर धर्यौ। मानु काम दूजौ अवतर्यौ॥१३॥
मधु मधु कहै खिलावै तात। बढै कला मानु दिन रात।

अंत।

॥दूहा॥ कायथ नैगम कुल इहैं, नाथा सुत भइयांराम।
तनय चतुर्भुज तास के, कथा प्रकाशी ताम॥८३॥
अलप बुद्धि धैठो दई, काम प्रबंध प्रकाश।
कवियन सुं कर जोड़ि कै, कहै चतुरभुज दास॥८४॥
वनसपति में अंब फल, रस में उतपति संत।
कथा मांहि मधुमालती, षट रितु मांहि वसंत॥८५॥

लता मांहि पनगलता, सूंघा कै घणसार।

कथा मांहि मधुमालती, आभूषण में हार॥८६॥

चौपाई॥ राजनीति की यामें साखी। पंचाख्यान वुधि ए भाखी।

चाणाइक चातुरी बताई। थोरी थोरी सबही आई॥८७॥

पुनि वसंत राज रस गावैं। जामें ईश्वर काम दखावें।

ताकी यह लीला विस्तारी। रसिकन श्रवणन कुं सुखकारी॥८८॥

रसिक होय सु नवरस चाहै। अध्यातम आतम औगाहै।

चातुर पुरुष होइ है कोई। इहै रस कला समझि है कोई॥८९॥

कृष्णदेव कौ पुत्र कहावै। प्रदुम्न काम अंश मधु गावै।

पुत्र कलत्र सबै सुख पावै। दुख दारिद्र न नैरौ आवै॥९०॥

श्लोक। कामार्थी लभ्यते काम, निर्धनी लभते धनम्।

अपुत्री लभते पुत्रं, व्याधि तस्य न पीड़िते॥९२॥

राजा पढै ताहिं राजगति, मंत्री पढै तिहि बुद्धि।

कामी काम विलास रस, ज्ञानी ज्ञान सुसिद्धि॥९३॥

इति श्री मधुमालती री बात संपूर्णम्॥ लि० श्रीबाकरौदमध्ये॥

पं० दुर्गदास गणि शिष्य जगरूप थानसिंघ सहिताः॥ सं० १७९१

बैशाख बदि ९॥ श्री॥ श्री॥ श्री॥ श्री॥

२—दानसागर भंडार की प्रति। यह प्रति २३ पत्र की है। इस में ९१० गाथाएं हैं। प्रथम गाथा न हो कर दूसरी से प्रारंभ होती है। पुष्पिका इस प्रकार है:—

इति मधुमालती री चौपाई संपूर्णः॥ संवत् १७८५ वर्षे मिति आसोज बदि १३ शुक्रे लिखितं ऋषि विरधमान वृद्धे कुंडचां ग्रामे लिखितं॥

३—अनंतनाथ जी के भंडार (बंबई) की प्रति। इस प्रति में भी प्रथम गाथा नहीं है। सब ८८९ गाथाएं हैं। देसाई महोदय ने हमें इसी की प्रशस्ति भेजी है।

इन दोनों प्रतियों में प्रशस्ति के बाद यह दोहा है:—

संपूरण मधुमालती, कलश चढे संपूर।

श्रोता वक्ता सबन कुं, सुखदायक दुख दूरि॥८८९।९१०॥

४—श्री राजेंद्र जैन वृहद् ज्ञानभंडार (आहोर) में बं० नं० ६६ पत्र २–७३ की

एक प्रति है। इस में १४९७ गाथाएं हैं। सं० १८१९ मा० सु० १२ के दिन मनरूप द्वारा लिखी हुई है।

५—आहोर के इसी भंडार में बं० नं० १६६ में ४६ पत्र की एक प्रति है। इस में ९६३ गाथाएं हैं। सं० १८३७ वै० ब० २ को राघवसागर लिखित है।

६—विजयधर्म लक्ष्मी ज्ञानमंदिर (आगरा) में नं० १६६९ में पत्र ५५ की एक प्रति है। नं० ४ प्रति की भाँति इस में भी १४९७ गाथाएं हैं। यह प्रति सं० १८९६ की लिखी हुई है।

७—खरतर गच्छ की भावहर्षीय शाखा के ज्ञानभंडार (बालोतरा) में १९ वीं शताब्दी की लिखी हुई एक प्रति है। यह प्रति कुछ अपूर्ण है किंतु संबंध देखते हुए ९०० से ऊपर गाथाएं नहीं होंगी।

८—गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी की नं० ७६२ में एक खंडित प्रति है।

९—'मधुमालती नी वार्त्ता' नाम से गुजराती में सं० १९३४ (ई० स० १८७८) में यह ग्रंथ छप चुका है। इस में ९८० गाथाएं हैं। "मुंबई, बारकोट मारकेट——सखाराम मलिक सेठ खातुं, एओए पोताना छापाखाना मां छापी प्रसिद्ध करी छे।"

हिंदी साहित्य के इस ग्रंथ का पूर्वकाल में पर्याप्त प्रचार था। गुजराती में आज से ६१ वर्ष पूर्व ही यह ग्रंथ प्रकाशित हो गया था, किंतु हिंदी में 'मिश्रबंधुविनोद' जैसे सुप्रसिद्ध ग्रंथ में भी इस के कर्ता का परिचय भ्रांतिपूर्ण है। ग्रंथ प्रकाशित होना तो दूर रहा। पाठकों के जानने के लिए 'मिश्रबंधुविनोद' भाग १, पृ० २७९ से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है:—

"चतुर्भुजदास (अष्टछाप)—ये महाशय स्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य और कुंभनदास के पुत्र थे। इन का वर्णन १५२ वैष्णवों की वार्ता में है। आपकी कविता में शृंगार-रस का प्राधान्य है—इन्हों ने मधुमालती री कथा एवं भक्तिप्रताप नामक ग्रंथ भी बनाए हैं। आप का समय १६२५ के लगभग था।"

यह परिचय भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः अष्टछाप वाले चतुर्भुजदास भिन्न हैं। "हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण" सं० १९०२ की रिपोर्ट के पृ० ४३ में कवि का परिचय इस प्रकार दिया है:—

"चतुरभुजदास—ये जाति के कायस्थ थे, और ग्रंथ से राजपूताना-निवासी जान

पड़ते हैं।"

पृ० ११५ में कृति का परिचय दिया है:—

"मधुमालती री कथा——चतुर्भुजदास कृत, लि० का० सं० १८३७ वि० मधु-मालती की प्रेमरस की कथा का वर्णन।"

सुकवि मंझन और चतुरभुजदास कृत मधुमालती में केवल मनोहर और मालती के नाम मिलते हैं, बाक़ी सारी कथावस्तु एवं पात्रों के नाम आदि सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। पृथक्-पृथक् कथाओं का वैषम्य यहां नहीं दिखलाया जा सकता। हम यहां केवल चतुरभुजदास कृत 'मधुमालती' का कथावस्तु संक्षेप से पाठकों की जानकारी के लिए लिखते हैं। मालूम होता है कि यह मनोरंजक कथा पौराणिक न होकर कल्पित उपाख्यान है।

कथा-सार

लीलावती देश के राजा चंद्रसेन की कनकमाला नामक रानी व मालती नामक पुत्री थी। राजा के प्रधान-मंत्री तारणसाह के एक पुत्र था, जिस का नाम मनोहर था और 'मधु' नाम से उसे पुकारते थे। लावण्यवान मधु कामदेव का अवतार ही था, उस के रूप से मुग्ध हो कर नगर-नारियां बेसुध होकर पीछे-पीछे डोलती थीं। मधु प्रायः रामसरोवर जाता, वहां उस के सौंदर्य से मोहित पनिहारिनें माथा धुनते हुए अकस्मात् घड़ा फोड़ डालतीं। जब यह हाल मालती ने सुना तो वह भी उसे देखने के लिए सप्रेम उत्कंठित हो गई।

मधु के पिता ने शुभ मुहूर्त में उसे नंद नामक पुरोहित के पास पठनार्थ भेजा। राजा ने भी रानी और मंत्री की अनुमति से उसी पंडित के पास मालती का अध्ययन प्रारंभ कर दिया। परदे की ओट में मालती पढ़ती थी। एक बार गुरु की अनुपस्थिति में मौक़ा पाकर परदा उठा कर मालती ने मधु को देखा तो उसे साक्षात् मदन का अवतार पाया। परस्पर प्रेमसंचार हो जाने पर भी मधु संकोचवश नीचे देखने लगा। वह जानता था कि राजकन्या से प्रेम करने पर आखिर दुःख उठाना पड़ेगा। अतः उस ने मृग-सिंहनी संबंध का दृष्टांत देकर समझाया और राजकन्या से प्रेम न करने को कहा। उस ने कन्नौज के राजा करण और सौरठ के सूरसेन की पुत्री पद्मावती का दृष्टांत कह कर प्रेम-याचना की। मधु ने भविष्य का विचार कर पंडित के पास पढ़ना छोड़ दिया, और रामसरोवर पर जा कर क्रीड़ा करने लगा। वहां पूर्ववत् पनिहारिनें मोहित होने लगीं, सखी ने मालती से जाकर

इस की सूचना दी। वह उस के विरह से व्याकुल हो रही थी, अतः सखियों के साथ खेलने का बहाना कर के रामसरोवर पर जा पहुँची। अपनी विरह-व्यथा का हाल उस ने प्रिय सखी जैतमाला से कहा। उस ने उस का अनुसंधान कर मालती को पुष्प-वृक्ष के नीचे खड़ी किया और, स्वयं मधु के पास गई, और उसे मीठी-मीठी मनोरंजक बातों से प्रसन्न कर मालती से मिलाया। मधु ने एक बार तो वणिक्-पुत्र और राजकन्या का संबंध अनुचित बता कर विवाह के लिए आनाकानी की; आख़िर जैतमाला के चातुर्यपूर्ण वचनों से विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार न कर सका। उसी स्थान पर जैतमाला ने दोनों का हाथ मिला कर विवाह कर दिया। वे दोनों रामसरोवर के पास सुख-विलास करने लगे।

माली ने उन का सारा वृत्तांत राजा को सुनाया। राजा ने क्रुद्ध होकर उन्हें मारने के लिए सैनिक भेजे। रानी ने चुपके से दासी के द्वारा उन्हें सूचित कर दिया कि 'प्राण बचा कर अन्यत्र चले जाओ!' मालती के भयभीत होने पर मधु ने समझा कर कहा कि 'धैर्य रक्खो! मुझे परमात्मा ने गिलोल दी है, अभी मलयंद-सुत की भाँति कोई आपदा नहीं पड़ी है, समय पर देखेंगे।' मालती के पूछने पर उस ने मलयंद सुत का इस प्रकार दृष्टांत सुनायाः—

'चंपावती के मलयंदा के चंद नामक २०–२२ वर्ष का पुत्र था। वाटिका में क्रीड़ार्थ आई हुई १८ वर्षीया मंत्री-कन्या की रूपरेखा को देख कर चंद्रकुमार कामातुर हो गया। द्रव्य द्वारा मालिन को वश में करके उस से बगीचे में संबंध कर लिया। एक दिन कामक्रीड़ा करते समय सिंह आ गया। उसे देख कर रूपरेखा भयभीत हुई। चंद्रकुमार ने साहस कर के तीरों से सिंह का फाड़ा हुआ मुँह भर दिया, जिस से सिंह मर गया और उन दोनों ने सुख से क्रीड़ा की। उद्यम और साहस से आई हुई विपदा चली जाती है।' मालती ने कहा 'आप गिलोल से क्या कर सकेंगे यह तो खेलने की है, संभव है ५–७ व्यक्तियों का सामना कर लें। आखिर बिना शस्त्रों के राज-सेना का सामना कैसे करेंगे? मधु ने कहा 'तुम इस की शक्ति नहीं जानती, अर्जुन ने जो विद्या द्रोणाचार्य से पाई थी, वही मैंने सीखी है, इस के सामने असंख्य योद्धा भी नहीं ठहर सकते।' उस ने उसी क्षण वृक्ष पर गिलोल का वार किया तो डाल, पत्ते धड़ आदि सब गिर पड़े। इधर पैदल सेना भी आ पहुँची। मधु ने युद्ध कर के सब को भगा दिया। राजा ने १००० सामंत घुड़सवार भेजे, उन्हें भी हरा दिया। तब राजा ने ५००० सैनिक भेजे। मालती ने वन को विस्तार कर मधुकरों को

बुलाया, जैतमाला ने पवन-देव की आराधना की। वायु के झकोरों से क्रुद्ध होकर भौंरे सैनिक और घोड़ों को काटने लगे। भौंरों के विष से पीड़ित होकर सेना भाग गई। राजा स्वयं ससैन्य आया। उस ने पहले दूत भेजा। मालती ने उसे अपमानित कर निकाल दिया। परस्पर घमासान युद्ध हुआ। भौंरों का दल वस्त्राच्छादित सैनिकों का विशेष अनिष्ट न कर सका। मधु स्वयं गिलोल ले कर लड़ने लगा। कंकरों की मार से सैनिकों के दाँत तोड़ डाले, शरीर छिद्र-छिद्र कर दिया। इस प्रकार भयानक परिस्थिति देख कर अकेले मधु की प्राणरक्षा में संदेह समझ कर मालती भयभीत होने लगी। जैतमाला ने कहा 'मधु को मारने वाला कोई नहीं है, वह स्वयं कामदेव का अंश और अवतारी पुरुष है।' ऐसा सुन कर मालती श्री केशव जी का ध्यान करने लगी। उस की स्तुति सुन कर हरि ने गरुड़ को आज्ञा दी। गरुड़ ने दो भारंड पक्षी भेजे, वे आकर सेना का भक्षण करने लगे, शिवशंकर का प्रेषित त्रिशूल आ गया। केसरी सिंह भी गरज कर हाथियों को भगाने लगे। मधु की गिलोल के कंकर, त्रिशूल की मार, भारंड और केसरी सिंह के आक्रमण से राजा अपनी बची-खुची सेना को लेकर भाग गया। एक योजन दूर पर जाकर ठहरा।

राजा ने परामर्श के लिए सब मंत्रि-मंडल को एकत्र किया, उन्हों ने कहा 'आप ने बुद्धिमान् मंत्री तारणसाह को क्यों छोड़ा, हम तो सब उसी के आज्ञाकारी हैं।' तब राजा ने तारणसाह को बुलाया। उस ने गौरीशंकर की दुहाई से उपद्रव मिटाया। गौरी ने प्रकट हो कर कहा 'मधु, मालती और जैतमाला तीनों एक ही शरीर समझो! मधु को तुम ने वणिक् समझ कर भूल की, वह तो अवतारी पुरुष है!' राजा ने कहा, 'लोक-व्यवहार में बनिए को राजकन्या देने से अपकीर्ति होती है।' मंत्री ने दो 'उलगाणा' साँपों का दृष्टांत सुना कर राजा को समझाया। अंत में राजा ने रानी से परामर्श कर के मधु के साथ मालती और जैतमाला का समारोह के साथ विवाह कर दिया। इस के बाद राजा ने अपना राज्य भी उसे दे दिया, जिस से वह बड़े आनंद से जीवन व्यतीत करने लगा।

(२) मधुमालती कथा (अपूर्ण)

गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी से प्रकाशित 'कवीश्वर दलपतराम हस्तलिखित पुस्तक संग्रह नी सूची' नामक ग्रंथ में मंझन एवं चतुरभुजदास कृत मधुमालती से भिन्न जिस अज्ञात कवि की 'मधुमालती' कथा का पता चलता है। उस के संबंध में उस सूची के

पृ० १५३ में इस विषय में इस प्रकार लिखा गया है:—

४६२ (अ) मधुमालती नी कथा

आरंभ—-रसिक मुकुटमणि श्री व्रजनाथ, प्रथम नमुं तोय पद धर माथ।
कौतुक कथा रचुं चित साह, जो जे काज पढे चित साह।
साम दाम बुद्धि भेद जो आई, बहतु रस सनगार बनाई।

. . . .

नौंध [शरुआत मां नीचे प्रमाणे लखेलुं छे:—
अथ मधुमालती नी कथा लीख्यते।। भाशा पूरबी।। दोहा, सोरठा, श्लोक, चौपाई १६४१ दोहा चौपाई सुधी नो भाग बंचाय एवी स्थिति मां छे, छेवट ना पानां न थी]

प्रति देखे बिना इस की कथावस्तु के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, किंतु ग्रंथ-विस्तार के हिसाब से कथा बहुत बड़ी प्रतीत होती है। अन्यत्र कहीं पूर्ण प्रति मिलने से (या इस प्रति के मध्य में कहीं कर्ता का निर्देश हो तो) रचयिता एवं कथावस्तु आदि के विषय में भी समुचित प्रकाश पड़ सकता है।

जिन दो पुस्तकों के परिचय इस लेख में मैंने अंकित किए हैं वह सत्रहवीं शताब्दी से पहले के नहीं ज्ञात होते। अतएव जो शंका मैंने आरंभ में उठाई थी (अर्थात् यह कि मलिक मुहम्मद जायसी की निर्देश की हुई 'मधुमालती' कोई अन्य और प्राचीन रचना है) बनी रह जाती है। संभव है भविष्य की खोज उस पर कुछ प्रकाश डाले।

———

समालोचना

गोरखनाथ ऍंड मिडीवल हिंदू मिस्टिसिज़्म––लेखक व प्रकाशक, डाक्टर मोहन सिंह, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०, ओरियंटल कालेज, लाहोर; पृष्ठ-संख्या, २२+१६+६४+४०=१७२; मूल्य, १५ रुपए।

इस पुस्तक में प्रसिद्ध गुरु गोरखनाथ के समय, जन्मस्थान, जीवनचरित व सिद्धांतों के विषय में इतिहास की दृष्टि से निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है, और दिखलाया गया है कि मध्ययुग के रहस्यवादी कवि अपनी विचारपरंपरा तथा बहुत कुछ अपनी रचनाशैली के लिए भी नाथपंथ के कहां तक ऋणी रहे। लेखक ने अपने विचार मुख्य कर 'गोरख-बोध' नामी किसी हस्तलिखित ग्रंथ के आधार पर निश्चित किए हैं, और उस ने कई अन्य आवश्यक सामग्रियों की भी सहायता ली है। पुस्तक का विषय अत्यंत गहन है और मत-भेदों से भरा है, किंतु लेखक का कहना है कि मुझे इस का बचपन से ही परिचय है, और बड़े-बड़े विद्वान् जानकारों के साथ रह कर मैंने इसे गंभीरता के साथ अध्ययन भी किया है। मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक, छोटी होने पर भी, इस संबंध की अनेक प्रचलित ग़लत-फ़हमियों को दूर कर देगी।

पुस्तक को देखने से जान पड़ता है कि इस के चार भाग वा अंश हैं। इन में से पहले में तीन प्रस्तावनाएं दी गई हैं जिन्हें सर फ़्रांसिस यंगहस्बैंड, प्रो० डाक्टर बेटी हैमन तथा राजा दलजीत सिंह ने अलग-अलग लिखा है। इस के साथ ही लेखक ने भी अपनी दो-तीन टिप्पणियां दी हैं जिन से कुछ प्रचलित मतभेदों का परिचय और उन पर निश्चित किए गए लेखक के विचारों का सारांश मिल जाता है। उदाहरण के लिए, तीसरी प्रस्तावना के अनुसार उठने वाले, तीन प्रश्नों, अर्थात् क्या गोरखनाथ एक से अधिक हो चुके हैं? क्या 'सहज', 'शून्य', 'सुरत' जैसे शब्दों का तात्पर्य नाथपंथ और मध्ययुगीन अथवा आधुनिक संत-संप्रदाय में भी एक ही प्रकार का समझना चाहिए? और, क्या नाथपंथ ईश्वर को नहीं मानता? के उत्तर लेखक ने क्रमशः 'नहीं', 'हां' और 'नहीं' कह कर दे दिए हैं। पुस्तक

के दूसरे अंश में केवल विषय-सूची, संकेत-सूची, आधार ग्रंथ सूची और अनुक्रमणी दी गई हैं।

पुस्तक का मुख्य विषय इस के तीसरे अंश के पूर्वार्ध में आता है जो केवल ४४ पृष्ठों का है। इन पृष्ठों का शीर्षक 'भूमिका' है, और इन में पहले 'गोरखनाथ' शब्द, गोरखनाथ के विषय में अध्ययन का महत्व, उस के लिए सामग्री, प्रांतीय भाषाओं का साहित्य और जोगी-संप्रदाय पर विचार प्रकट किए गए हैं और, उस के अनंतर, गोरखनाथ के समय, जन्मस्थान, जीवनचरित, सिद्धांत और प्रभाव के विषय में निर्णय किया गया है। इन्हीं पृष्ठों में से अंत के १० में 'गोरखबोध' ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतियों तथा 'बनारसी-विलास' और 'शबद शलोक' जैसी प्रकाशित पुस्तकों और 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' एवं 'कल्याण' के 'योगांक' के कुछ निबंधों की चर्चा की गई है, और गोरखनाथ तथा सिद्धों की भाषा के संबंध में तुलनात्मक आलोचना करने का भी प्रयत्न किया गया है। सामग्रियों में से लेखक ने स्वयं गोरखनाथ के रचे छंद और पद तथा 'गोरखबोध' में दिए गए गोरख-मछंदर-संवाद को स्वभावतः सब से अधिक महत्व दिया है। परंतु जिन विशेष रचनाओं वा उन के पाठों के आधार पर लेखक ने अपना अंतिम निर्णय दिया है उन की प्रामाणिकता क्या नितांत असंदिग्ध समझी जा सकती है? गोरखनाथ के समझे जाने वाले उक्त छंदों वा पदों के असली होने के क्या प्रमाण हैं? क्या 'बनारसीविलास' व 'शबद शलोक' ग्रंथ, वास्तव में, किन्हीं प्रामाणिक मूल प्रतियों के आधार पर प्रकाशित किए गए हैं, अथवा क्या डाक्टर बड़थ्वाल के निबंधों के मूल आधार 'पौड़ी मैनुस्क्रिप्ट' की ही प्रामाणिकता अभी तक सिद्ध की जा सकती है? इस के सिवाय, स्वयं लेखक के ही अनुसार, 'गोरखबोध' की केवल तीन उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में से पंजाब यूनिवर्सिटी लायब्रेरी की प्रति पर कोई तिथि नहीं है, और वह खंडित व अपूर्ण भी है, और जोधपुर की स्टेट लायब्रेरी वाली प्रति में भी केवल कुछ और पंक्तियां मिलती हैं। तीसरी प्रति का लेखक ने इस से अधिक विवरण नहीं दिया है कि वह पट्टी के जैन मंदिर में रक्खी हुई है। डाक्टर ग्रियर्सन ने 'गोरखबोध' का समय १४ वीं ईस्वी शताब्दी निश्चित किया था, किंतु भाषा व शैली की विशेषताओं के आधार पर लेखक इसे ११ वीं ईस्वी शताब्दी का ठहराते हैं। इस परिणाम पर पहुँचने के लिए जिन युक्तियों का आश्रय लेखक ने लिया है, उन पर संदेह प्रकट करने की बहुत कुछ गुंजायश है, जो पुस्तक के चौथे अंश में उद्धृत 'गोरखबोध' के पाठ को ध्यान-

पूर्वक देखने से ही स्पष्ट हो जाती है, और फिर गोरखनाथ व मछंदर के बीच क्या सचमुच ऐसी बातें हुई होंगी ?

गोरखनाथ का समय, आदि निश्चित करते समय लेखक ने इस्माइल, चर्पट, बाबा रतन, आदि कुछ व्यक्तियों के संबंध में पाए जाने वाले उल्लेखों की चर्चा की है, और परंपरा के अनुसार गोरख व मछंदर के शिष्य-गुरु-संबंध को मान कर सामग्रियों पर बिना कोई युक्तिपूर्ण तर्क-वितर्क किए ही परिणाम निकाल लिए हैं। इस कारण इस संबंध में पुस्तक में दिए गए सभी निर्णयों से संतोष नहीं होता, और न उन्हें सहसा स्वीकार कर लेने को जी चाहता है। गोरखनाथ के जन्मस्थान के विषय में लेखक ने, जान पड़ता है, केवल उन्हीं प्रमाणों का उल्लेख किया है जो उस का पंजाब वा किसी दूसरे पश्चिमी प्रांत के अंतर्गत होना बतलाते हैं। पूर्व ओर के गोरखपुर अथवा नेपाल की गोरखा जाति के विषय को यह कह कर टाल दिया है कि किसी दूसरे लेखक ने 'गोरखा' और 'गायकवाड़' शब्दों को एक ही मूल से उत्पन्न माना है। अतएव, संभव है कि नेपाल में आने वाली किसी राजपूत जाति ने, उस प्रांत को जीत कर आबाद किया हो; और 'गोरख' वा 'गोरखा' शब्द 'गायकवाड़' का ही अपभ्रंश हो। किंतु यही तर्क पंजाब वाले गोरखपुर वा गोरख नामधारी किसी दूसरे स्थान के विषय में भी क्यों नहीं लागू हो सकता अथवा पूर्वी गोरखपुर की प्राचीनता वा उस के मंदिर आदि के महत्व को किस प्रकार सहसा उड़ा दिया जाय, तथा इस संबंध की अनेक परंपराओं को भी किस प्रकार भुला दिया जाय, इस का कोई समाधान लेखक ने नहीं दिया है। गोरखनाथ व नाथपंथ के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों के विषय में भी, इसी प्रकार, लेखक के कुल विचारों से सभी सहमत नहीं हो सकते, किंतु उन की पूरी आलोचना के लिए अधिक स्थान अपेक्षित होगा। गुरु गोरखनाथ व नाथपंथ के प्रभाव संबंधी विचार बहुत अंशों में ठीक कहे जा सकते हैं, और लेखक का यह कहना भी युक्ति-संगत है, कि वास्तव में, कनफटा संप्रदाय गोरख के पहले का है।

अंत में पुस्तक की रचना-शैली के विषय में भी दो-एक बातें लिखना आवश्यक जान पड़ता है। पुस्तक, जैसा ऊपर कहा गया है, छोटी होने पर भी कई अंशों में विभक्त है, परंतु फिर भी इस में कोई व्यवस्था स्पष्ट नहीं होती। लेखक ने इस के कई अंशों को, जहां चाहा है, स्थान दे दिया है। उदाहरण के लिए अनुक्रमणी और अशुद्धि पत्रों का बीच में आना बहुत खटकता है। इस के सिवाय लेखक ने जिस विषय को लिया है उसे पूरा

किए बिना ही-कहीं-कहीं वह बीच-बीच में अन्य प्रकार की बातें डाल देता है जो उचित नहीं जान पड़ता। सारी पुस्तक, एक प्रकार की नोट-कापी सी हो गई है, और इस का कारण कदाचित् लेखक की प्रकाशन-संबंधी शीघ्रता ही कही जा सके। फिर भी विषय की दृष्टि से पुस्तक अत्यंत उपादेय है, और आगे की खोज के लिए इस से पूरी सहायता मिल सकती हैं। पुस्तक का मूल्य, २५) से १५) रुपए कर देने पर भी, अभी बहुत अधिक है।

कात्यायन

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था--लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति--लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य--लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध--लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता--लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत--लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६।।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास--लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक--संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत--लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट--संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १।)

(११) सौर-परिवार--लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास--लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी--संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री--संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य--लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज--लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य कपड़े की जिल्द ३।।); सादी जिल्द ३)

(१७) हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी---लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य कपड़े की जिल्द १।।); सादी जिल्द १)

(१८) नातन--लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक---मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास--लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३।।)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल--लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य कपड़े की जिल्द ५।।); सादी जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र--लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य कपड़े की जिल्द ४।।); सादी जिल्द ४)

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)---लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का कपड़े की जिल्द ५।।); सादी जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला--लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्०। सचित्र। मूल्य सादी जिल्द ६); कपड़े की जिल्द ६।।)

(२४) प्रेम-दीपिका--महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य ।।)

(२५) संत तुकाराम--लेखक, डाक्टर हरिरामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य कपड़े की जिल्द २); सादी जिल्द १।।)

(२६) विद्यापति ठाकुर--लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०। मूल्य १)

(२७) राजस्व--लेखक, श्री भगवानदास केला। मूल्य १)

(२८) मिना--लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम्० ए०, डी० फ़िल्०। मूल्य १)

(२९) प्रयाग-प्रदीप--लेखक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव। मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३।।)

(३०) भारतेंदु हरिश्चंद--लेखक, श्रीयुत ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य ५)

(३१) हिंदी कवि और काव्य--(भाग १) संपादक, श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य सादी जिल्द ४।।); कपड़े की जिल्द ५)

(३२) हिंदी भाषा और लिपि--लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट् (पेरिस)। मूल्य ।।)

हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश्य

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश्य हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक दे कर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता दे कर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश्य की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

मुद्रक—पी० टोपा, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक—डाक्टर ताराचंद, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

—० } अप्रैल, १९३९ { अंक २

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश्य

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश्य हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

लेख-सूची

वार्षिक मूल्य ४)—डाकव्यय-सहित

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ९ } अप्रैल, १९३९ { अंक २

महात्मा चरणदास जी

[लेखक--श्रीयुत ब्रजरत्न दास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

(१)

चरणदास जी के विषय में पहले-पहल 'भाषा-काव्य-संग्रह' तथा 'शिवसिंह-सरोज' में केवल इतना लिखा मिलता है कि यह फ़ैज़ाबाद ज़िले के अंतर्गत पंडितपुर ग्राम के निवासी ब्राह्मण थे, तथा इन का समय सं० १५३७ था। इसी की सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में पुनरावृत्ति मात्र कर दी है। 'मिश्रबंधुविनोद' के नए संस्करण में सं० ५२९, सं० ६५३ तथा सं० ८४२ पर चरणदास नाम के तीन व्यक्तियों के उल्लेख हैं। तीसरे चरणदास कोई ऐसे सज्जन हैं, जिन का रचना-काल उन्नीसवीं शताब्दी का आरंभ है। प्रथम संख्या पर 'नेहप्रकाशिका' तथा 'बिहारी-सतसई' नामक दो रचनाएं, कवि का नाम, और सं० १७४९ रचना-काल मात्र दिया है। दूसरी संख्या पर अलवर के धूसर ब्राह्मण चरणदास का उल्लेख है, जिन के पूरे एक दर्जन ग्रंथों की सूची दी गई है। इन का जन्म-मृत्यु-काल क्रमशः सं० १७६० तथा १८३८ लिखा गया है। विवरण केवल इतना दिया है कि—"ये अलवर में पैदा हुए और देहली में मरे। ये व्यास-पुत्र शुकदेव जी के शिष्य थे। 'सरोज' ने इन का समय सं० १५३७ दिया है और केवल 'ज्ञानस्वरोदय' इन का रचित लिखा है। यहां खोज कर संवत् दिया गया है। द्वितीय

त्रैवार्षिक रिपोर्ट से इन के एक और ग्रंथ 'कुरुक्षेत्र की लीला' का पता चलता है तथा 'ब्रह्म-ज्ञान-सागर' तृतीय त्रैवार्षिक रिपोर्ट में मिला है।"[1]

तात्पर्य यह कि 'विनोद' का सारा साधन नागरी-प्रचारिणी-सभा की रिपोर्टें हैं। अतः अब उन पर भी एक सरसरी दृष्टि डाल लेना चाहिए। सन् १९०१ ई० की रिपोर्ट में चरणदास की केवल एक रचना 'ज्ञान-स्वरोदय' का विवरण दिया गया है।[2] इस में जन्म-मृत्यु-संवत् पूर्वोल्लिखित ही है पर चरणदास का पंडितपुर का ब्राह्मण होना अशुद्ध बतलाया गया है,[3] तथा इन की एक शिष्या सहजोबाई का भी उल्लेख है। सन् १९०५ की रिपोर्ट में 'अष्टांगयोग', 'नासकेत' तथा 'संदेहसागर' नामक इन की तीन रचनाओं का उल्लेख है। इस में जन्म-मृत्यु-संवत् तक नहीं दिया गया है, न और विशेष कुछ लिखा है।[4] सन् १९०६-८ की प्रथम त्रैवार्षिक रिपोर्ट में इन की सात रचनाएं दी गई हैं।[5] इन्हें इस में अलवर का ढूसर बनिया लिखा है, तथा सहजोबाई नाम की इन की शिष्या का उल्लेख है। इसी रिपोर्ट में संख्या २२६ पर सहजोबाई का और संख्या ९ पर बालकृष्ण नायक का उल्लेख है, जो अपने को चरणदास का शिष्य बतलाते हैं। ये सब रिपोर्टें राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास जी की तैयार की हुई हैं। द्वितीय तथा तृतीय-त्रैवार्षिक रिपोर्टें द्वितीय तथा तृतीय विनोदकारों ही द्वारा लिखी गई हैं। इन में द्वितीय में संख्या ४५ पर 'कुरुक्षेत्र-लीला' नामक चरणदास जी की रचना की रिपोर्ट है। विशेष कुछ न लिख कर चरणदास का पंडितपुर का होना अशुद्ध बतलाया गया है। तृतीय में 'भक्तिसागर', 'अष्टांगयोग' और 'ब्रह्मज्ञानसागर' इन तीन रचनाओं की रिपोर्टें हैं। चरणदास के विषय में उक्त रिपोर्टों में जो लिखा गया है उस का सारांश यही है कि तीन चरणदास हो गए हैं, जिन में सुखदेव दयाल के शिष्य यह चरणदास स्वामी

---

[1]'मिश्रबंधुविनोद', भाग २, पृ० ६०१-२

[2]सं० ७०

[3]मेवात के वर्तमान ढूसर अपने को वधूसर भार्गव ब्राह्मण कहते हैं और वधूसर का अपभ्रंश ढूसर बतलाते हैं। हेमू ढूसर था, और मुसलमान इतिहासकारों ने उसे बक्काल लिखा है। चरणदास, सहजोबाई आदि ने अपने को ढूसर मात्र लिखा है, वणिक् या ब्राह्मण का उल्लेख भी नहीं किया है।

[4]संख्या १७-१९

[5]संख्या १४७ ए से जी तक।

हरिदास जी के राधावल्लभीय वैष्णव संप्रदाय के थे। इन के ११ ग्रंथ पहले ज्ञात हो चुके थे, अब यह बारहवां 'ब्रह्मज्ञानसागर' नया मिला है। नहीं कहा जा सकता कि उक्त खोज के आधार पर होते हुए भी 'विनोद' का विवरण क्यों भिन्न हो गया है, और उस के लिए कोई कारण भी नहीं दिया हुआ है। खोज में इन्हें राधावल्लभीय क्यों लिखा है, इस का भी उस में कोई कारण नहीं बतलाया गया है।

अब तक हिंदी साहित्य के इतिहास में चरणदास जी के विषय में जो कुछ लिखा मिला है, उस का सार ऊपर दे दिया गया है। इस से ज्ञात होता है कि इन की जीवनी तथा इन की रचनाओं पर विशेष प्रकाश डालने का अब तक कोई प्रयास नहीं किया गया, नहीं तो इतना साधन अवश्य प्राप्त है कि इन की संक्षिप्त जीवनी पूरी तैयार हो सकती है। अब इन्हीं साधनों पर विचार किया जायगा।

चरणदास जी की एक शिष्या सहजोबाई थीं, जो उन की स्वजातीय तथा उन्हीं की जन्मभूमि की निवासिनी थीं।[1]

हरि प्रसाद की सुता नाम है सहजो बाई।
ढूसर कुल में जन्म सदा गुरु-चरन्ह सहाई॥

इन्हों ने 'सहज-प्रकाश' नामक एक ग्रंथ लिखा है, जिस की रचना का समय उस में इस प्रकार दिया गया है—

फाग महीना अष्टमी, सुकल पाख बुधवार।
संबत अठारे सै हुते, सहजो किया सिचार॥
दिल्ली सहर सुहावना, प्रीछित पुर में बास।
तहां समापत ही भई, नवका सहज प्रकास॥

उक्त उद्धरण से सहजोबाई का हरिप्रसाद ढूसर की पुत्री होना, तथा दिल्ली में सं० १८०० के फाल्गुन शुक्ल ८ बुधवार को 'सहज-प्रकाश' का समाप्त होना निश्चित हो जाता है। यह संसार-विरक्त हो कर अविवाहिता रह गईं, और चरणदास जी की शिष्या हो कर उन की विशेष कृपापात्री हुईं। इन के जन्म-मरण के विषय में ठीक पता नहीं चलता।

---

[1] 'सहजोबाई की बानी', (संतबानी सीरीज, बेल्वीडियर प्रेस, इलाहाबाद, पृ० ४४-५

यह अपने गुरु से अवस्था में छोटी थीं, इस से इन का जन्म सं० १७६० के बाद ही हुआ होगा। इन्हों ने अवस्था भी अधिक पाई थी। दयाबाई इन की स्वजातीय तथा गुरु-बहिन थीं, और इन दोनों में बड़ी मित्रता थी। दोनों ही गुरु-सेवा में मग्न रहती थीं। दोनों ही की कविता गुरुभक्ति तथा ईश्वर-प्रेम से भरी है। इन्हीं सहजोबाई ने चरणदास के जन्म पर कुछ पद[1] लिखे हैं, जिन के आवश्यक अंश यहां उद्धृत किए जाते हैं—

१—सखी री आज जन्म लियो सुखदाई।
ढूसर कुल में प्रगट हुए हैं बाजत अनंद बधाई॥
भादों तीज सुदी दिन मंगल सात घड़ी दिन आए।
संबत सत्रह साठ हुते तब सुभ समयो सब पाए॥
गुरु सुकदेव नांव धरि दीन्ह्यो चरनदास उपकारी।
सहजोबाई तन मन वारै नमो नमो बलिहारी॥

२—सखी री आज आनंद देव बधाई।
धन भादों धन तीज सुदी है जा दिन प्रगटे आई॥
धन धन कुंजो भाग तिहारे चरनदास सुत पाई।
श्री सुकदेव करी जब किरपा गावै सहजोबाई॥

३—सखी री आज धन धरती धन देसा।
धन डहरा मेवात मंझारे हरि आये जन भेसा॥
धन भादों धन तीज सुदी है धन दिन मंगलकारी।
धन ढूसर कुल बालक जनम्यौ फुल्लित भये नर नारी॥
धन धन माई कुंजो रानी धन मुरलीधर ताता।
अगले दत्तव अब फल पाये तिनकै सुत भयौ ज्ञाता॥
भरम नसावन भक्ति बढ़ावन बहु पारायन करता।
सब फलदायक सब कुछ लायक अघमोचन दुख हरता॥
अनगिन बरस बहुत चिरजीवौ गुरु सुकदेव सहाई।
सहजोबाई देत असीसैं पावै दरस बधाई॥

---

[1] 'सहज-प्रकाश', संतबानी सीरीज़, पृ० ५६–७, १–२

४––कर जोरूं परनाम करि धरूँ चरन पर सीस।
दादा गुरु सुकदेव जी पूरन बिस्वे बीस॥

५––नमो नमो सुकदेव गुसाईं। प्रगट करी भक्ती जग माहीं॥
श्रीमतभागवत् भानु प्रकासा। पढ़ि सुनि कटै तिमिर की फांसा॥
ज्ञान जोग की नौका कीन्ही। चरनदास केवट को दीन्ही॥

उक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि मेवात के अंतर्गत डेहरा में चरणदास जी का सं० १७६० के भाद्रपद शुक्ल ३ मंगलवार को सात घड़ी दिन चढ़ने पर जन्म हुआ था। इन के पिता मुरलीधर ढूसर जाति के थे, और इन की माता का नाम कुंजो था। इन के गुरु का नाम सुकदेव था और उन्हों ने इन का नाम चरणदास रक्खा था तथा इन्हें श्री मद्भागवत और ज्ञानयोग की शिक्षा दी थी।

चरणदास जी स्वयं भी अपनी रचनाओं में अपने विषय में यथास्थान कुछ लिख गए हैं।

१––डहरे में मेरा जनम नाम रंजीत बखानौ।
मुरली को सुत जान जात ढूसर पहचानौ॥
बाल अवस्था माँहि बहुरि दिल्ली में आयो।
रमत मिले सुखदेव नांव चूनदास धरायो॥
जोग जुगत हरि भक्ति कर ब्रह्म ज्ञान दृढ़ कर गह्यौ।
आतम तत्व विचार कै अजया में सन मन रह्यौ॥
('ज्ञानस्वरोदय')

२––ब्रह्मज्ञान पोथी कही चरनदास निरवार।
समझै जीवन मुक्त हो लहैं भेद ततसार॥
चरनदास रंजीत भए जब आनंद आनंद सूझा।
('शब्द')

३––संवत सत्रह सै इक्यासी। चैतसुदी तिथि पूरनमासी॥
सुकल पक्ष दिन सोमहि वारा। रचौं ग्रंथ यौं कियो बिचारा॥
तब ही सूं अस्थापन धरिया। कुछ इक बानी वा दिन करिया॥
ऐसे ही पांच हजार बनाई। नाव गुरु के गंग बहाई॥

फिर भई बानी पांच हजारा। हरि के नाव अगिन में जारा॥
तीजे गुरु आज्ञा सूं कीनी। सो आपन संतन के दीनी॥
जामे ज्ञान जोग वैरागा। प्रेमभक्ति जामें अनुरागा॥
निर्गुन सर्गुन सबही कहिया। फिर गुरु चरन कमल में रहिया॥
('भक्तिसागर') लिपिकाल सं० १८३९

पूर्वोक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इन का नाम रंजीत था और डेहरे में इन का जन्म हुआ था। इन के पिता मुरली ढूसर जाति के थे। यह बाल्यावस्था ही में दिल्ली चले आए, जहां मार्ग में घूमते-फिरते सुखदेव जी मिले। इन्हों ने इन का चरनदास नाम रख कर योग, हरिभक्ति तथा ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी। इन्हों ने सं० १७८१ के चैत्र शुक्ल १५ सोमवार को ग्रंथ-रचना आरंभ की और पांच-पांच हज़ार बानियों के तीन संग्रह बनाए। इन में प्रथम में गुरु के नाम पर भक्ति की गंगा बहाई गई है, दूसरे में योग पर लिख कर भगवान् के नाम पर आहुतियां दी हैं, और तीसरे में निर्गुन कथा, उपदेश आदि कह कर अपने शिष्य-संप्रदाय को दिया है। इस प्रकार सहजोबाई द्वारा लिखित चरण-दास की अति संक्षिप्त जीवनी का इस से पूर्णतया समर्थन होता है।

इन के जिन एक शिष्य बालकृष्ण नायक[1] का ऊपर और उल्लेख हो चुका है, उन के एक ग्रंथ 'ध्यानमंजरी' की रचना

सत्रह सै षडविंस बरषवर मास फालगुन।
सुकल पक्ष पंचमी अमल सुभ वार लगन पुन॥

है, जो चरणदास के जन्म के ४४ वर्ष पहले समाप्त हो चुका था। इन्हों ने अपने को ध्यान-दास तथा चरणदास का 'अनुग' कहा है—

श्री विनोदी श्री ध्यानदास जग जीव उद्धारक।
श्री चरणदास जन तोष करण भूजस विस्तारक॥
तिनके अनुग बनाय करी यह संत जननि हित।

अतः यह चरणदास अन्य तथा इन चरणदास के पूर्वकालीन हैं।

अंग्रेज़ी में 'ट्राइब्ज़ ऐंड कास्ट्स' नामक एक बृहत् पुस्तक चार जिल्दों में है, जिसे

---

[1] सन् १९०६-८ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट सं० ९ ए।

मिस्टर क्रुक्स ने लिखा है। इस में चरणदासी मत के विषय में लिखते हुए उस के प्रवर्तक की जीवनी भी दी है, जिस का पूरा उद्धरण नीचे दिया जाता है।

"चरणदास ने अपना एक मत चलाया था, जो चरणदासी कहलाता है। इन का जन्म अलवर के अंतर्गत डेहरा में सन् १७०३ ई० में हुआ था। इन के पिता मुरलीधर जब मरे तब उस के पुत्र रंजीतसिंह की अवस्था पाँच वर्ष की थी। इन की बहन का नाम सहजोबाई था, जिन्हों ने 'सहज-प्रकाश' ग्रंथ लिखा है। यह बालक उसी समय दिल्ली चला आया, और अपने संबंधियों के यहां रहने लगा। यह उन्नीस वर्ष की अवस्था में मुज़फ़्फ़रनगर के पास शूकरताल में बाबा सुखदेवदास का शिष्य हुआ, जो प्रसिद्ध साधु थे, और जिन्हों ने इस का नाम रामचरणदास रक्खा। बाद को इन्हों ने अपना संप्रदाय अलग चलाया और बहुत से शिष्य बनाए। इन के प्रधान शिष्य स्वामी रामरूप तथा गोसाईं जगपतन और शिष्या सहजोबाई थीं। इन में से प्रत्येक ने अलग-अलग मठ स्थापित किए और उन के व्यय के लिए मुग़ल बादशाहों से भूमि प्राप्त की, जिन की सनदों को बृटिश सरकार ने भी मान लिया है।[1] इन की रचनाएं 'संदेह-सागर', 'नासकेत' तथा 'धर्म-जहाज' हैं। एक गुटका भी है, जो उपनिषदों पर लिखा गया है। इन की ख़ास बहन सहजोबाई थीं चरणदास के जन्मस्थान डेहरा में इन की छतरी बनी है,[2] जहां इन की माला तथा वस्त्र अब तक सुरक्षित हैं।"[3]

इतना विवरण चरणदास जी के चलाए संप्रदाय के अनुयायियों तथा मठाधीशों से पूछ कर ही लिखा गया है, और पहले लिखे गए जीवन-वृत्त का समर्थन करते हुए उस पर बहुत कुछ नया प्रकाश भी डालता है। अतः चरणदास का इतना जीवन-वृत्त सब प्रकार से निश्चित तथा मान्य है।

अलवर के तहसीलदार शेख़ मुहम्मद मख़दूम के लिखे हुए अलवर के इतिहास 'मुरक्क़ए अलवर' के पृ० ८१ पर चरणदास का कुछ जीवन-वृत्त लिखा गया है, जिस का सारांश यह है, कि आलमगीर द्वितीय के समय में चरणदास नामक एक सिद्ध पुरुष

---

[1] मैकलेगन, 'पंजाब सेन्सस रिपोर्ट', १२० और बाद के पृष्ठ।
[2] राजपूताना गेज़ेटियर, जिल्द ३, पृ० २१५
[3] क्रुक्स 'ट्राइब्ज ऐंड कास्ट्स', जि० २, पृष्ठ २०१–५

हो गए हैं, जो 'स्वरोदय ज्ञान' में अद्वितीय थे। अलवर के अंतर्गत डेहरे में सं० १७६० में इन का जन्म हुआ था, और माता का कुंजो तथा पिता का मुरलीधर नाम था। जाति के ढूसर थे। इन की माता पाँच वर्ष की अवस्था में इन्हें लेकर दिल्ली आईं, जहां उस के पिता बहादुरगढ़ से आ कर बस गए थे। यहीं पढ़-लिख कर यह स्वरोदय ज्ञान में ऐसे सिद्ध हो गए कि लोग आकर इन का चरण पूजते थे। इन के बहुत से शिष्य भी हो गए थे। यह मगसर सुदी ४ सं० १८३९ को दिल्ली में मरे, जहां इन की समाधि है। डेहरे में इन की छतरी है, जहां इन की माला और टोपी रक्खी हैं। हर साल उन के दर्शन को मेला लगता है।

चरणदास जी के समस्त ग्रंथों का एक संग्रह श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से प्रकाशित हुआ है, जिस की मूल कापी अत्यंत प्राचीन हस्तलिखित बतलाई जाती है, और जो इन्हीं के संप्रदाय के एक महंत द्वारा प्राप्त हुई है। इसी संप्रदाय के सज्जनों द्वारा लिखित इस में भूमिका, जीवनी आदि भी दी गई हैं। चरणदास जी के शिष्य रामरूप जी कृत शुकदेव जी की जन्मलीला भी इस में सम्मिलित की गई है। इस संग्रह में ३ पृष्ठों में चरणदास की जीवनी दी गई है पर उस में नाम आदि के सिवा जो कुछ अधिक है वह उन का माहात्म्य बढ़ाने का चमत्कार-पूर्ण कथन मात्र है। उस पर विशेष आस्था रखना समय के अनुकूल नहीं है, तब भी उस का सारांश यहां दे दिया जाता है।

"चरणदास के आठ पीढ़ी पहले इन के वंश में शोभनदास जी हो गए थे, जो श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। इन पर प्रसन्न हो कर प्रत्यक्ष दर्शन देकर भगवान् ने वर दिया था कि तुम्हारी आठवीं पीढ़ी में हमारा अंशावतार होगा। चरणदास जी के पिता मुरलीधर भी परम भक्त थे तथा वह सदेह वैकुंठ पधारे थे, और इन की माता च्यवन कुल की थीं। चरणदास दीक्षित होने के अनंतर वृंदाबन गए और श्री राधाकृष्ण की रासलीला का उन्हें दर्शन हुआ। वहां से लौट कर यह दिल्ली में श्री जी का मंदिर स्थापित कर वहीं रहने लगे। इन के बहुत से शिष्य हुए। इन का संप्रदाय चरणदासी वैष्णव कहलाया। मुहम्मदशाह बादशाह इन का भक्त हो गया। इन्हें सहस्रों ग्राम भेंट किए। नादिरशाह की चढ़ाई का वृत्त इन्हों ने छः महीना पहले मुहम्मद शाह से कह दिया था। यह हाल सुन कर नादिरशाह भी इन से मिलने आया था। चरणदास जी अस्सी वर्ष तक इस लोक में रह कर सं० १८३९ वि० में परलोक सिधारे।"

प्रोफ़ेसर विल्सन चरणदासी मत के विषय में लिखते हैं कि "इस संप्रदाय में सृष्टि-क्रम का सिद्धांत विशेषतः वेदांत ही के समान है, पर वैष्णव मतानुसार श्रीकृष्ण ही को ये भी परब्रह्म मानते हैं। इस मत में वैष्णवों के समान ही गुरु तथा हरिभक्ति को सर्वोपरि माना है। कहते हैं कि वे पहले ईश्वर के किसी चिह्न की पूजा करने में भिन्न मत रखते थे, और तुलसी तथा शालिग्राम की अर्चना नहीं करते थे, पर बाद को वे वैसा करने लगे क्योंकि रामानंदी संप्रदाय में वैसा होता था तथा ये उन से मित्रता रखते थे। ये सदाचार को महत्व देते हैं, और कर्म को महत्व देते हुए उस से अपने को स्वच्छंद नहीं मानते, क्योंकि उस का बुरा तथा अच्छा फल मिलता है। इन में माध्व-संप्रदाय के अनुसार दस निषेध आज्ञाएं हैं, जैसे असत्य न बोलना, किसी पर व्यंग्य न कसना, किसी से कठोर भाषण न करना, आलस्य में समय न बिताना, चोरी न करना, व्यभिचार न करना, किसी को कष्ट न पहुँचाना, किसी की बुराई न चेतना, किसी से घृणा न करना, तथा अहंकार न रखना। इसी के साथ विधेय आज्ञाएं हैं कि स्ववर्ण के अनुसार काम करना चाहिए, साधु-संतों का सत्संग रखना चाहिए, गुरु पर पूरी आस्था रखनी चाहिए और वृंदाबन के श्रीकृष्ण ही को सर्वस्व मानना चाहिए, जो अपनी माया से सृष्टि को चला रहे हैं। इन में संसार-विरक्त तथा संसारी दोनों ही होते हैं। प्रथम पीत वस्त्र पहनते हैं, गोपीचंदन का एक लंबा टीका मस्तक पर लगाते हैं और तुलसी की माला तथा सुमिरिनी रखते हैं। छोटी नुकीली टोपी पहिन कर पीला साफ़ा बाँधते हैं। रहन-सहन अच्छा होता है, पर साधु होते भी अमीर शिष्यों के कारण आराम से रहते हैं, गोकुलस्थ गोस्वामियों के प्रभुत्व को हटाने के लिए यह संप्रदाय चला है। 'भागवत' तथा 'गीता' के भाषानुवाद इन के प्रधान ग्रंथ हैं, जिस में प्रथम का बहुत अंश स्वयं चरणदास कृत है। इन की रचना 'संदेहसागर' तथा 'धर्म-जहाज' गुरु-शिष्य के संवाद-रूप में है। चरणदासियों के मत में इन के गुरु शुकदेव जी पुराण-लेखक व्यास जी के पुत्र थे। इन की ख़ास बहिन सहजोबाई इन की प्रथम शिष्या थीं, जिन्होंने 'सहज-प्रकाश' तथा 'सोलह-तत्व-निर्णय' लिखा है। प्रधान स्थान दिल्ली में है, जहां इन की समाधि है।"[१]

---

[१]विल्सन, 'एसेज़', जिल्द १, पृ० १७५

२

(२)

इन की रचनाएं बहुत हैं, और कई चरणदास के होने से कभी-कभी भ्रम से एक की पुस्तकें दूसरे के नाम लिख दी जाती हैं। मेरे पुस्तकालय में चरणदास की हस्तलिखित रचनाओं की दो जिल्दें हैं, जिन के ग्रंथों के नाम तथा विवरण नीचे दिए जाते हैं।

१--अमरलोक अखंडधाम--इस में दोहे-चौपाई में गोलोक, सखा-सखी तथा श्री राधाकृष्ण का अनुराग वर्णित है। इस में ९-९ पंक्ति के ३२ पृष्ठ हैं।

२--ज्ञान-स्वरोदय--इस में दोहा, चौपाई, कुंडलिया और छप्पय में योग के स्वाँस-भाग के माहात्म्य तथा तत्व का वर्णन है। ९-९ पंक्ति के ५८ पृष्ठ हैं।

३--रागसंग्रह--९-९ पंक्तियों के २८ पृष्ठों में १२ पद हैं।

४--भक्ति-पदारथ ३२० दोहे, चौपाई, कुंडलिया आदि में गुरु तथा हरिभक्ति और सत्संग का माहात्म्य इस में कहा गया है। दोहे अधिक हैं। १४-१४ पंक्तियों के ५७ पृष्ठ हैं।

५--ब्रह्मज्ञान-सागर--इस में १९० दोहे, चौपाई, कवित्त आदि में त्रिगुण, जीव, माया, इंद्रिय, नाड़ी, परमेश्वर की सभी में व्याप्ति आदि का वर्णन है। १४-१४ पंक्तियों के ३६ पृष्ठ हैं।

६--नासिकेतु वर्णन--इस में नासिकेतु-उपाख्यान १४-१४ पंक्तियों के ७९ पृष्ठों में, १८३ पदों में, वर्णित है। दोहे, चौपाई ही अधिक हैं। नरक तथा स्वर्ग दोनों ही का अच्छा वर्णन है।

७--शब्द--यह १४-१४ पंक्तियों के ६६ पृष्ठों में है। गुरु के अंग, भक्तों के अंग, एक पद में श्रीकृष्ण के १०८ नाम, सगुण उपासना के अंग, जोग, बैराग के अंग आदि का ७१ पदों में वर्णन है। श्रीवेंकटेश्वर प्रेस के छपे संग्रह में २४-२४ पंक्तियों के १२४ पृष्ठों में यह संग्रह है।

उक्त सात रचनाओं के सिवा श्रीवेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित चरणदास जी के 'भक्तिसागर-संग्रह' में जो ग्रंथ अधिक हैं, उन का विवरण नीचे दिया जाता है।

८--व्रज-चरित्र--इस में व्रजमंडल तथा कृष्णलीला का संक्षेप में वर्णन है। चौपाई अधिक हैं, कहीं-कहीं दोहा, कवित्त भी हैं। छापे की २४ पंक्ति के १४ पृष्ठ हैं।

९--धर्म-जहाज--गुरु तथा शिष्य के संवाद-रूप में धर्म की कुछ मोटी-मोटी

बातें कही गई हैं। दोहे, चौपाई ही में कुल कथन है। ३० पृष्ठ की पुस्तक है।

१०—अष्टांग-योग—गुरु शिष्य-संवाद में योग के आठों अंगों का वर्णन है। चौपाई, दोहे ही अधिक हैं तथा ३७ पृष्ठ हैं।

११—षट्कर्म हठयोग वर्णन—इस में गुरु-शिष्य संवाद में हठयोग के ६ कर्म, मुद्राएं, बंधन तथा अष्टसिद्धि का वर्णन है। यह भी दोहे, चौपाई में है, और १५ पृष्ठों का है।

१२—योग संदेह सागर—पाँच पृष्ठों की दोहे चौपाई में छोटी सी रचना है। इस में प्राणायाम, नाड़ी आदि का वर्णन है।

१३—पंच उपनिषद्—२५ पृष्ठों में पाँच उपनिषदों का तथ्य बतलाया है। दोहे तथा अष्टपदियों में है।

१४—गुटका (मन विकृत करन)—श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध में दत्तात्रेय द्वारा राजा यदु को जो ज्ञानोपदेश दिया गया है उसी का सार इस में ३० पृष्ठों में वर्णित है। दोहे तथा अष्टपदियां ही हैं।

१५—भक्तिसागर—यह तेरह पृष्ठों का छोटा सा ग्रंथ है। इस में योग का निर्देश कर भक्ति का प्राधान्य दिखलाया गया है। यह आरंभिक ग्रंथ है और इसी नाम पर इन की सभी रचनाओं का संग्रह प्रकाशित भी हुआ है।

इस प्रकार चरणदास जी की निश्चित १५ रचनाओं का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इन के सिवा खोज के आधार पर मिश्रबंधुओं ने 'हरिप्रकाश टीका', 'दानलीला' तथा 'राममाला' तीन रचनाएं और लिखी हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के खोज-विवरण में पृष्ठ ४३ पर 'कुरुक्षेत्र-लीला', 'दानलीला', 'राममाला' और 'चरणदास-सागर', पूर्वोल्लिखित १५ रचनाओं के अलावा अधिक हैं। इस में पहले अंतिम नाम पर विचार कीजिए। उक्त विवरण में इस नाम के आगे (ख ७०) लिखा हुआ है, और ख से सन् १९०१ ई० की वार्षिक रिपोर्ट से मतलब है। उस रिपोर्ट के देखने से ज्ञात होता है कि उक्त नं० पर 'ज्ञानस्वरोदय' का विवरण दिया हुआ है। परंतु विवरण के नोट के अंत में इतना अवश्य लिखा है कि 'इन का एक ग्रंथ और भी सुना गया है, जिस का नाम 'चरणदास-सागर' है। बस यही सुनी बात खोज-विवरण में दर्ज हो गई। उक्त खोज-विवरण बहुत शुद्ध नहीं है। 'कुरुक्षेत्र-लीला' वास्तव

में चरणदास जी की है, क्योंकि द्वितीय त्रैवार्षिक रिपोर्ट में उस के जो अंश उद्धृत हैं वे उन्हीं की कृति हैं। यह १३–१३ पंक्तियों के ७८ पृष्ठों में समाप्त हुआ है, और इस में कृष्ण-लीला वर्णित है। इस में अष्टपदियां अधिक ज्ञात होती हैं। अन्य दो नाम, 'माला' तथा 'दानलीला' के उद्धरण रिपोर्ट में नहीं दिए गए हैं, अतः उन के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

(३)

चरणदास जी परम वैष्णव थे पर भक्ति के साथ योग का मेल भी इन में था और सामयिक संतों का प्रभाव भी इन पर कम न था। इन्हों ने भी अपना एक पंथ चलाया है, जो वैष्णव माध्व संप्रदाय के अंतर्गत आ जाता है। यह भक्ति को सर्वोपरि धर्म मानते थे। लिखते हैं—

वृन्दावन सब सो बड़ो, जैस दूध में घीव।
सब धर्मन में भक्ति ज्यों, यथा पिंड में जीव।।

'ब्रजचरित्र' में वृंदाबन की बड़ी प्रशंसा करते हुए श्रीराधाकृष्ण तथा गोप-गोपियों की लीला का अच्छा वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के शृंगार का वर्णन करते हुए कहते हैं—

कुमकुम बिंदी दीपित भाल उदधि-जात द्युतिता हरनम्।
मकराकृत कुंडल अति राजत झुमक दामिनी छबि धरनम्।।
कटि किंकिनि पैंजनि पग बाजत मुक्तमाल सुर सुर बरनम्।
जन चरनदास चरनन को चेरो सदा रहै गिरिधर शरनम्।।

इन की श्रीकृष्ण पर परम निष्ठा रही है। जिस अखंडधाम अमरलोक का चित्र इन्हों ने खींचा है, उस में इन्हीं अपने इष्टदेव का प्रतिष्ठापन करते हुए कहा है कि—

आदि पुरुष परमात्मा, तुमहिं नवाऊं माथ।
चरनन पास निवास दै, कीजै मोहि सनाथ।।
तुम्हरी भक्ति न छाड़हूं, तन मन शिर क्युं न जाव।
तुम साहिब मैं दास हूं, भलो बनो है दाव।।

चरणदास ढोंगी संत साधुओं से चिढ़ते थे। जो कोरी बकवाद किया करते

हैं पर कार्य में संलग्न नहीं रहते, केवल साधु का भेष बना लेते हैं पर अंतःकरण से साधु नहीं रहते। वे

अंतर में करनी नहीं, मनही माहिं लजात।
दंभी उन को जानिए, जग में सिद्ध दिखात॥

प्रत्येक पुरुष को जीवन में यथाशक्ति कार्य अच्छे करने चाहिए क्योंकि कर्म, होनहार या भाग्य क्या है—

पिछली करनी अब की पावै, ताही को नर करम बतावै।
होनहार अरु भाग वही है, परालब्ध सोइ बड़ो कही है॥

इस लिए इन का उपदेश है कि सुकार्य ही धर्म है। 'धर्मजहाज' नामक रचना में उज्वल तथा खोटे कर्मों का विस्तार से वर्णन किया है और अंत में कहा है कि ये सुकर्म ही धर्मरूपी पोत हैं, जिस पर चढ़ कर जीव भवसागर पार हो जाते हैं।

करनी ही सों सिद्धि ह्वै जावै। अष्टसिद्धि करनी सों पावै॥
यह तौ धर्म जहाज है, मैं तोहि दई निहार।
भवसागर में डारियो, चढ़ै सो उतरै पार॥

'भक्ति-पदार्थ-वर्णन' में जहां भक्त तथा साधु के माहात्म्य का वर्णन किया है वहां विशेष कर उन के सुकार्यों ही पर दृष्टि रक्खी है—

दयाज्ञान दाता गुन पूरे। पैज धारणा बचनौं शूरे॥
मुक्ति कामना फल नहि चाहैं। ऋद्धि सिद्धि अरु त्यागै लाहैं॥
हार जीत नहिं वाद विवादा। सदा पवित्र समझ्झ अगाधा॥
हिंसा अकस भाव नहिं दूजा। सब जीवन की राखै पूजा॥

चरणदास जी ने इस ग्रंथ में भक्ति का विस्तार से वर्णन किया है और उस के अंग-प्रत्यंग पर विचार किया है। किस प्रकार मोह, माया, दंभ आदि से भक्ति रक्षा करती है और दया, शील, दान आदि की ओर भक्तों को प्रेरित करती रहती है, इस की विवेचना की है। यद्यपि इन्हों ने योग के आठों अंगों पर, हठयोग के षट्कर्म, ब्रह्मज्ञान आदि पर भी विस्तार से लिखा है पर अंत में आ कर सब के फल-स्वरूप यही निष्कर्ष निकाला है कि—

प्रेम बराबर योग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेमभक्ति बिन साधिबो, सब ही थोथा ध्यान॥
प्रेम छुटावै जगत कूं, प्रेम मिलावै राम।
प्रेम करै गति और ही, लै पहुंचै हरिधाम॥

तात्पर्य यह कि चरणदास जी परम भक्त थे। 'अष्टादस अरु चार को काढ़ि लियौ ततसार।' उस सार को उन्होंने भक्ति ही माना है।

पालि खरपुत्तजातक का अवधी रूपांतर

[लेखक—डाक्टर बाबूराम सक्सेना, एम्० ए०, डी० लिट्०]

पालि की जातक कथाओं में भारतीय दंतकथाएं भरी पड़ी हैं। इन से पुराना कथा-साहित्य संसार की किसी भाषा में नहीं मिलता। अनुमान ऐसा है कि यह कथाएं देश में प्रचलित थीं। बौद्ध भिक्षुओं ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए तथा बुद्ध भगवान की महत्ता दिखाने के लिए उन्हें बौद्ध रँग में रंग दिया। जो भी हो हम को जो रूप सब से पुराना इन कहानियों का प्राप्त है वह है यही बौद्ध रूप। यह कहानियां बराबर बुड्ढे बच्चों से कहते आए हैं और समय के फेर से इन में अनायास हेरफेर भी होता रहा है।

नीचे मैं अवधी भाषा की एक कहानी का खड़ी बोली में संस्करण देता हूं। यह कहानी मैंने बचपन में अपनी मां से सुनी थी। बाद को पालि जातक पढ़ने पर मुझे खरपुत्त-जातक की कथा से और इस से बहुत साम्य दिखाई पड़ा। नीचे इस जातक कथा का भी हिंदी अनुवाद दिया जाता है। पाठक दोनों को मिला कर देखेंगे तो उन्हें कई बातें साम्य की और कई भेद की दिखाई पड़ेंगी। अवधी कहानी पौराणिक वातावरण की चीज़ है—माया देवी, नाग देवता, छूत-छात, जात-पाँत, काशी-मरण आदि। पालि कथा में नाग-राज और राजा की दोस्ती है। नाग जाति सर्प से कोई भिन्न जाति है।

कथा-साहित्य के इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से हमारे समाज के इतिहास पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। मेरा विश्वास है कि यदि अपने गाँवों में प्रचलित कहानियों का संग्रह किया जाय तो इस प्रकार की बहुत सी रोचक बातें उन से मालूम हो सकती हैं। 'हिंदुस्तानी' के पाठकों के लिए नीचे दोनों कथाएं दी जाती हैं।

अवधी कथा

एक राजा थे। खूब राज की। जब उन की आयु पूरी होने आई तब नौकर चाकर सब छोड़ने लगे। जब नौकर चाकर कोई नहीं रहे तब राजा कमली ओढ़ कर पहरा देने

लगे। देखें क्या? माया निकली जायँ परनाले के रास्ते। राजा बोले—"तुम कहां जाती हो?" बोलीं कि "अब राजा की मृत्यु आगई है तो हम भी जा रहे हैं।" तो माया बहुत रो रही थीं। राजा ने पूछा —"क्यों रोती हो?" कहने लगीं—"राजा अच्छा था। हाय साँप आकर कल उन को डस लेगा। इसी लिए रो रही हूं।" तो राजा ने फिर पूछा—"किसी तरह से बचेंगे?" माया बोली—"किसी तरह से न बचेंगे। हां, एक बात है। जहां से बाँबी हो वहां से खूब फूल-फुलवाड़ी लगवाएं। रास्ता झड़वाएं और राजा के पलंग के पास तक रुई के पहल बिछावें और इत्र गुलाब खूब छिड़कावें। नाँदें गड़वा कर दूध भरवा दें। और राजा के पलंग के पास चार खंभे केले के गड़वा दें। राजा के पलंग पर बिछौना मखमल का करा दें और सुगंधें छिड़का दें। राजा उसी मकान में एक कोने में चुपके बैठ जायँ।"

अब साँप राजा को काटने चले। तो इधर देखें फूल, उधर देखें फुलवाड़ी। सूँघें और मगन हो जायँ। दूध पिएं और मगन हो जायँ। लोटते-पोटते आए पलंग के पास। चारों खंभे देखें। लिपट जायँ, चढ़ें उतरें। बड़े खुश। पलंग पर चढ़े और लोट गए। बहुत ही मगन हो गए। इत्र से पास गए। तब बोले—"राजा को हम क्या काटें? राजा ने हमारे साथ बहुत अच्छा (सलूक) किया। अब राजा को हम अपनी आधी उम्र दे देंगे।" अब राजा को बुलाया। तो राजा आवें न। तो त्रिवाचक दिया और कहा—"आ जाओ। अब तुम्हें हम न काटेंगे।" राजा आए और पैरों पर गिर पड़े। साँप बोले—ज़िन्दगी तो दे चुके। अब जो (चीज़) माँगो सो दें।" तो (राजा) बोले—"हम माँगते हैं कि जितने जीव-जंतु धरती पर हों उन की बोली हम पहचान लें।" तो साँप बोले —"नहीं राजा, फिर पछताओगे। यह काम मत करो। इस में तुम धोका खा जाओगे। तुम से बिना पछताये रहा न जायगा और जिस क्षण बताओगे कि मर जाओगे।" तो राजा बोले कि "नहीं तुम हमें बता दो। हम किसी से नहीं बताएँगे।" साँप उन्हें बोली बता कर और अच्छी तरह खा पी कर अपनी बाँबी को चले गए। अब राजा अपनी राज करने लगें। बहुत दिन राज की।

कुछ दिन बाद राजा भोजन कर रहे थे। राजा की थाली से भात के सीथ गिर रहे थे। एक चींटी आकर ले ले जाय। चौके के बाहर एक चींटा था। चींटी जब चौके के बाहर जाय तो चींटा छीन छीन ले। तो उन्हों ने कहा—"तू क्यों नहीं ले आता जा कर?

हम बार बार लाते हैं और बार बार तुम छीन लेते हो। तुम क्यों नहीं जा कर ले आते हो?" चींटा बोला कि "तुम हो जाति की ब्राह्मणी और हम हैं चमार। यदि तुम जाओगी तो राजा का चौका छूत न होगा और हम जायेंगे तो राजा का चौका छूत हो जायगा।" इतना सुन कर राजा ठहाका मार कर हँसे।" रानी समझीं "हमारे ऊपर हँसे।" हठ पड़ गईं—"हम को बता दो क्यों हँसे। क्या हम को उघाड़े देखा या कुछ भोजन पर हँसे?" राजा ने कहा—"हम तुम पर नहीं हँसे।" रानी बोलीं—"किस पर हँसे?" राजा ने ने कहा—"बताएँगे नहीं।" राजा की बात सुन कर रानी ने कहा कि "यदि नहीं बताओगे तो हम अन्न पानी न करेंगे।" और लंघन करने लगीं। तब राजा बोले कि "हमने तो नाग बाबा को वचन दिया था कि नहीं बताएँगे। (उन्हों ने) कहा था कि 'बताओगे तो मर जाओगे।' अच्छा जो नहीं मानती हो तो चलो काशी में बताएं चल कर। लेकिन पछताओगी ज़रूर।"

दोनों वहां से चले। चलते चलते जब एक मंज़िल हो गई तो राजा बोले—"रानी यहां अन्न पानी कर लो। नहा धो लो।" यह कह कर राजा वहीं पर टहलने लगे। एक बकरा कुआं के ऊपर खड़ा था और अंदर एक बकरी थी। वह जब दूब नोच नोच कर ऊपर आवे तो बकरा छीन ले। तब बकरी बोली—"हम से बार बार छीन लेते हो। तुम भीतर जाकर क्यों नहीं ले आते?" बकरा बोला कि "जो हम भीतर जायँ तो कौन जाने गिर पड़ें। तू यदि गिर पड़ेगी तो हमारे लिए बकरियां बहुत हैं।" राजा सुन रहे थे "क्या हम को टाल-टूल कर राजा बनाया है जो औरत के पीछे जा रहे हैं काशी को मरने?" राजा खड़े खड़े सुन रहे थे। राजा ने सुन कर ली एक छड़ी और लेकर मारने लगे रानी को बुला कर कि "और हठ करोगी, और पूछोगी।" रानी गऊ बोलीं तब छोड़ा। दोनों जन घर को लौटे और राज करने लगे।

जैसे उन के दिन बहुरे वैसे सब के बहुरें।

पालि खरपुत्रजातक कथा

पूर्व समय में जब काशी में राजा सेनक राज्य करते थे तब बोधिसत्व शक्र (इंद्र) थे। तब सेनक राजा की एक नागराज से मित्रता थी। (एक बार) वह नागराज नागलोक से निकल कर पृथ्वी पर अपना भोजन ग्रहण करते हुए जा रहे थे। गाँव के लड़के

साँप साँप चिल्ला कर ढेलों से उन्हें मारने लगे। राजा उद्यान में क्रीड़ा करने जा रहे थे। देख कर पूछा कि "यह लड़के क्या कर रहे हैं।" "एक साँप को मार रहे हैं ।" यह सुन कर आज्ञा की कि मारने मत दो इन (लड़कों) को भगा दो।, नागराज जीवन पाकर नागलोक गए और बहुत से रत्न ले कर आधी रात के समय राजा के शयनगृह में जाकर उन रत्नों को राजा को समर्पण कर "आप की कृपा से मुझे जीवन मिला" यह कह कर मित्रता कर ली। बार बार आकर राजा से भेंट करते। अपनी नाग-कन्याओं में से एक काम-वासना से अतृप्त नागकन्या को रक्षा करने के निमित्त राजा के पास रख दिया और कहा "जब यह न दिखाई पड़े तो यह मंत्र दुहराना"। ऐसा कह कर एक मंत्र भी दे (बता) दिया। वह राजा (सेनक) एक दिन उद्यान में जाकर नागकन्या के साथ तालाब में उदक-क्रीड़ा कर रहे थे। नागकन्या एक पानी के साँप को देख कर अपना स्वरूप त्याग कर उस सर्प के साथ व्यभिचार करने लगी। राजा ने जब उसे न देखा तो "कहां गई" यह सोच कर मंत्र दुहराया और तब उस अनाचार करती हुई को देख कर छड़ी से मारा। वह गुस्सा हो गई और नागलोक को चली गई। "क्यों चली आई?" ऐसा पूछने पर "तुम्हारा मित्र उस की बात न मानने पर मुझे पीठ पर मारता है" ऐसा कह कर मार के निशान दिखाए ।

नागराज ने सही बात न जान कर चार नागपुत्रों को बुलाया और कहा "जाओ सेनक के शयनागार में जाकर अपनी फुफकार से उसे भूसे की तरह जला डालो ।" वे गए और जब राजा पलंग पर लेटे हुए थे तब शयनागार में घुसे। उन के प्रवेश करते समय ही राजा रानी से कह रहे थे —"रानी जानती हो वह नागकन्या कहां गई?" रानी बोली "महाराज, नहीं जानती।" "आज वह मेरे तालाब में क्रीडा करते समय अपना स्वरूप छोड़ कर एक पानी के साँप के साथ अनाचार कर रही थी। तब मैं ने 'ऐसा न कर' यह शिक्षा देने के लिए उसे छड़ी से मारा। मुझे भय है कि वह नागलोक में जाकर कुछ और कह कर मित्रभाव न बिगड़वा दे।" यह सुन कर नागपुत्र वहां से लौट पड़े और नागलोक में जाकर नागराज से यह बात कही।

नागराज को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसी क्षण राजा के शयन-गृह में आए और सारी बात कह कर क्षमा माँगी और "यह मेरी सज़ा है" यह कह कर सब प्राणियों की बोली के ज्ञान का मंत्र (राजा को) देकर बोले—"महाराज यह बहुमूल्य मंत्र है। यदि इसे

किसी दूसरे को दीजिएगा तो आग में प्रवेश कर मरना होगा।" राजा ने "अच्छा" कह कर स्वीकार किया।

उस समय से राजा चींटियों की भी बोली समझने लगे। एक दिन जब महल में बैठे हुए वह शहद और शीरे के साथ खाना खा रहे थे तब एक बूँद शहद और एक बूँद शीरा तथा एक टुकड़ा पूए का जमीन पर गिर पड़ा। एक चींटी उसे देख कर यह चिल्लाती हुई दौड़ पड़ी—"राजा के महल में शहद का हंडा फूट गया, शीरा की गाड़ी, पूओं की गाड़ी लौट पड़ी। आओ शीरा और पूआ खाओ।"राजा उस का शोर सुनकर हँस पड़े। राजा के समीप बैठी हुई रानी ने सोचा—"क्या देख कर राजा हँसे?" खाना खाकर स्नान करके पलंग पर राजा के लेट जाने पर एक मक्खी का पति अपनी पत्नी से बोला—"भद्रे, आओ, रति क्रीडा करें।" वह बोली—"स्वामी ज़रा, ठहरो। अभी राजा के पास (कर्मचारी) सुगंधित लेप ला रहे हैं। उन के लगाने पर उन के पैर के पास सुगंधित चूर्ण गिर पड़ेगा। उस में बस कर मैं ख़ुशबूदार हो जाऊँगी। तब राजा की पीठ पर लेट कर हम लोग क्रीडा करेंगे।" राजा यह भी सुन कर हँस पड़े। देवी ने फिर सोचा—"राजा क्या देख कर हँसे?" फिर राजा के रात्रि भोजन करने पर एक सीथ जमीन पर गिर पड़ा। चींटियां चिल्लाईं—"राजगृह में भात की गाड़ी टूट गई। भात खाने वाले हैं ही नहीं?" उसे सुन कर राजा फिर हँस पड़े। सोने की कलछुल से परोसती हुई रानी ने सोचा कि "मुझी को देख कर राजा हँसे।"

राजा के साथ पलंग पर लेटी हुई रानी ने पूछा—"देव, किस कारण से आप हँस रहे थे?" उन्हों ने कहा—"मेरे हँसने के कारण से तुम्हें क्या करना?" बार बार पूछने पर बता दिया। तब रानी ने कहा—"बोली के ज्ञान का मंत्र मुझे दो।" "नहीं दे सकता" इस प्रकार मना करने पर भी बार बार ज़िद की। राजा बोले—"यदि यह मंत्र तुम्हें दूंगा तो मर जाऊंगा।" "मरो तो भी मुझे दो।" स्त्री के वश हुआ राजा बोला—"अच्छा।" ऐसी प्रतिज्ञा कर—"इस (रानी) को मंत्र बता कर अग्नि में प्रवेश करूँगा" ऐसा सोच कर उद्यान की ओर रथ पर चला।

उसी समय शक्र देवराज ने संसार का अवलोकन करते हुए इस बात को देखा और कहा—"यह मूर्ख राजा स्त्री के कारण अग्नि में प्रवेश करने जाता है, इस को जीवन-दान दूँगा।" ऐसा सोच कर असुर कन्या सुजा को लेकर बनारस आए। उस (सुजा) को बकरी

बना कर और स्वयं बकरा बन कर "लोग मुझे न देखें" इस विचार से राजा के रथ के सामने खड़े हो गए। उन्हें केवल राजा और रथ में जुते हुए घोड़े ही दीखते थे और कोई नहीं। वह (शक्र) बात उठाने के लिए इस प्रकार खड़े हुए मानो बकरी के साथ मैथुन धर्म कर रहे हों। रथ में जुता एक घोड़ा उन्हें देख कर बोला—"सौम्य अज, मैंने पहले सुना था कि बकरे बेशर्म होते हैं पर कभी देखा न था। एकांत में गुप्त स्थान में करने योग्य अनाचार को तुम हम इतने लोगों के देखते हुए कर रहे हो और शर्माते नहीं। जो पहले सुना था वह अब ठीक उतरा।" ऐसा कह कर पहली गाथा बोला—

"पंडित लोग सच ही कहते थे कि बकरा बेवक़ूफ़ होता है। देखो! मूर्ख गुप्त कार्य को प्रकट करता हुआ भी नहीं समझता है ॥१॥

यह सुन कर बकरा दो गाथाएं बोला—

"हे खरपुत्र (गदहे) तुम मूर्ख हो, समझो। रस्सी से बँधे हो, ओठ टेढ़े हो गए, मुँह नीचे है ॥२॥ और सौम्य! एक और मूर्खता है कि तुम छूट जाने पर भाग नहीं जाते, और सौम्य! जिसे तुम लिए जा रहे हो वह तुम से भी अधिक बेवक़ूफ़ है ॥३॥

राजा उन दोनों की बोली समझ रहे थे। इस लिए उसे सुनते हुए रथ धीरे धीरे चला रहे थे। घोड़ा भी उस (बकरे) की बात सुन कर चौथी गाथा बोला—

"सौम्य! मैं मूर्ख हूं ऐसा ही समझ लो। पर मेरे पूछने पर यह तो बताओ कि सेनक किस प्रकार मूर्ख है?" ॥४॥

उस को उत्तर देते हुए बकरे ने पाँचवीं गाथा कही—

"उत्तम वस्तु पाकर जो स्त्री को देगा। इसी से प्राण त्याग देगा और वह स्त्री भी उस की न होगी" ॥५॥

राजा बोले—"अजराज, हमारा कल्याण तुम्हीं करोगे। बोलो, मुझे अब क्या करना चाहिए?" अजराज उन से बोले—"महाराज! प्राणीमात्र को अपने से प्यारा और कोई नहीं। एक प्रिय वस्तु के लिए अपने को नष्ट कर देना और प्राप्त किए यश को त्याग देना उचित नहीं।" ऐसा कह कर छठी गाथा बोले—

"हे राजा, अपना निराकरण कर के तुम्हारे ऐसे को अपने प्रियों की सेवा नहीं करनी चाहिए। आत्मा ही श्रेय है, परम श्रेय है, जीवन रहते बहुत से प्रिय मिल

जाते हैं'' ॥ ६ ॥

महासत्व ने इस प्रकार राजा को शिक्षा दी। राजा ने प्रसन्न होकर पूछा—"अजराज, कहां से आए?" "महाराज, मैं शक्र हूं। तुम पर दया कर तुम्हें मरने से बचाने आया हूं।" "देवराज, मैंने इस (रानी) से कहा था कि मंत्र बताऊंगा। अब क्या करूं?" "तुम दोनों में से किसी के मरने की ज़रूरत नहीं। 'शिक्षा के लिए उपचार होता है' ऐसा कह कर इस (रानी) को दो चार प्रहार दिलाओ। इस उपाय से नहीं ग्रहण करेगी।" राजा "अच्छा" कह कर राज़ी हो गए। महासत्व राजा को उपदेश देकर अपने स्थान को चले गए। राजा ने उद्यान में जाकर रानी को बुलवाया और बोले—"भद्रे, मंत्र लोगी?" "हां, देव।" "तो, उपचार" (फ़ीस) दो। "क्या उपचार है?" "पीठ पर सौ प्रहार पड़ने पर भी (मुंह से शब्द) न निकले।" वह मंत्र के लोभ से "अच्छा" कह कर राज़ी हो गई। राजा ने नौकरों को बुला कर उन्हें कोड़े ग्रहण करवा कर रानी को दोनों तरफ़ से पिटवाया। दो तीन प्रहारों को सह कर वह चीख़ पड़ी—"मुझे मंत्र नहीं चाहिए।" तब राजा बोले—"तुम तो मुझे मार कर मंत्र लेना चाहती थीं?" ऐसा कह कर पीठ की चमड़ी उधड़वा डाली तब छोड़ा। तब से फिर कभी रानी की पूछने की हिम्मत नहीं हुई।

श्रीमद् ज्ञानसार जी और उन का साहित्य

[लेखक—श्रीयुत अगरचंद नाहटा, भँवरलाल नाहटा]

भारतीय साहित्य में जैन साहित्य अपना एक विशेष स्थान रखता है। साहित्य का प्रत्येक क्षेत्र जैन विद्वानों के अनुपम एवं अनूठे अमृतसिंचन द्वारा विकसित एवं पल्लवित हुआ है। तत्वज्ञान, न्याय, व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र, शिल्प-विज्ञान आदि प्रत्येक विषय और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, कन्नड, तामिल, आदि सभी प्रधान भारतीय भाषाओं के ग्रंथ जैन साहित्य रत्नाकर में समुपलब्ध हैं। जैन कवियों द्वारा रचित हिंदी साहित्य विपुल परिमाण में उपलब्ध है, जिस की संक्षिप्त रूपरेखा श्री नाथूराम जी प्रेमी ने आज से १५-२० वर्ष पूर्व सप्तम हिंदी साहित्य सम्मेलन जबलपुर में "हिंदी जैन साहित्य का इतिहास" नामक निबंध पढ़ कर उपस्थित की थी। इस से पूर्व लाहौर के बाबू ज्ञानचंद जी जैनी ने हिंदी जैन ग्रंथों की एक सूची[1] भी प्रकाशित की थी, जिस में लगभग १०० कवियों और ३०० से ऊपर हिंदी जैन ग्रंथों का निर्देश था। श्री नाथूराम जी प्रेमी आदि के प्रयत्न से बहुत से हिंदी जैन ग्रंथ अब प्रकाशित भी हो चुके हैं।

कविवर बनारसीदास जी की भाँति और भी बहुत से उत्तमोत्तम हिंदी जैन कवि हुए हैं, जिन्हों ने हिंदी साहित्य की अनमोल सेवा की है। हम उन में से एक महापुरुष श्रीमद् ज्ञानसार जी का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत निबंध में देने का प्रयत्न करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में श्रीमद् ज्ञानसार जी नाम के एक श्वेतांबर जैन यति प्रतिभा-

---

[1] इसी सूची को परिवर्द्धित कर संस्कृत-प्राकृत ग्रंथ-सूची सहित श्री नाथूराम जी प्रेमी ने "दिगंबर जैन ग्रंथकर्ता और उन के ग्रंथ" नाम से 'जैनहितैषी' में व स्वतंत्र रूप से भी छपाया था। हाल ही में मूलचंद जी वत्सल लिखित "हिंदी जैन कवियों का इतिहास" (बनारसीदास और भगवतीदास) एवं, भूधरदास का काव्यालोचना पर एक ग्रंथ छपा है।

संपन्न कवि, मस्त योगी एवं राजमान्य महापुरुष हो गए हैं। उन का जन्म सं० १८०१ में बीकानेर राज्यांतर्गत जांगलू के समीपवर्ती जैंगलैवास में हुआ था। उन के पिता का नाम उदयचंद जी सांड[1] और माता का जीवण देवि था। उन का जन्म-नाम 'नारायण' था, और इसी नाम से उन की सर्वत्र प्रसिद्धि हुई।

जन्म

सं० १८१२ में मारवाड़ में भीषण दुष्काल पड़ा था, उस समय से यह खरतर गच्छ के आचार्य श्री जिनलाभभूरि जी की सेवा में रहने लगे थे, और उन्हीं के तत्वावधान में इन का विद्याध्ययन हुआ। सं० १८२१ में इन्हें दीक्षा के योग्य जान कर पादरू ग्राम में मिती माह शुक्ला ८ को उक्त श्रीपूज्य जी ने यति-दीक्षा दी। दीक्षा के अनंतर इन का नाम 'ज्ञानसार' रक्खा और अपने शिष्य श्री रायचंद जी के शिष्य रूप से प्रसिद्ध किया। सं० १८३४ तक यह अपने गुरु जी के साथ श्री जिनलाभभूरि जी की सेवा में ही रहे। इसी बीच में (सं० १८२६-३४) इन के गुरु श्री रायचंद जी का स्वर्गवास हो गया। सं० १८३४ के आश्विन कृष्णा १० को गूढा में श्रीपूज्य जी भी स्वर्ग सिधारे। इस के पश्चात् सं० १८३५ में सूरि जी के ७ शिष्य अलग-अलग हो गए। तब से श्री ज्ञानसार जी अपने गुरु के बड़े गुरुभ्राता श्री राजधर्म जी के साथ रहने लगे। प्रथम चातुर्मास उन के साथ ही पाली में किया, वहां से विहार कर राजधर्म जी नागौर आए और ज्ञानसार जी किशनगढ़ चले गए। किशनगढ़ जाकर राजधर्म जी के पास नागौर वापिस चले आए। उस के बाद सं० १८४५ तक आप अधिकांश उन्हीं के साथ रहे थे। संवत् १८४५-४७ के चातुर्मास जयपुर में किए।

दीक्षा

सं० १८४८ में जब यह जयपुर[2] में थे, तत्कालीन आचार्य श्री जिनचंद सूरि जी ने इन्हें वहां से विहार कर महाजनटोली जाने का आदेश दिया। उन के आदेशानुसार इन्हों ने पूर्वदेश की ओर विहार कर सं० १८४९ का चातुर्मास महाजन-टोली में किया। वहां से संघ सहित विहार कर श्री सम्मेत-शिखर तीर्थ की यात्रा की। सं० १८५० - ५१ के चातुर्मास अज़ीमगंज आदि में कर के

पूर्व की ओर विहार

---

[1] ओसवाल जाति का एक गोत्र।
[2] सं० १८४८ में राजधर्म जी जयपुर से पुहकरण जाकर स्वर्गवासी हुए।

० १८५१ माघ सुदी ५ को द्वितीय वार श्री सम्मेतशिखर जी की यात्रा की। वहां से वापिस पश्चिम की ओर विहार करते हुए सं० १८५२ का चातुर्मास संभवतः दिल्ली में किया, वहां से लौटते हुए सं० १८५३ में जयपुर पधारे। पूर्व देश के नाना अनुभवों का सजीव वर्णन आपने 'पूरब देश वर्णन' में किया है।

कहा जाता है कि जिस समय आप जयपुर पधारे थे उस समय वहां के महाराजा का पट्ट-हस्ति बीमारी के कारण दिनों-दिन सूख रहा था। रोग-प्रतिकार के अनेक उपचार किए गए किंतु कोई फल न मिला, तब किसी राज्याधिकारी ने राजगुरु खरतर गच्छीय यतिश्री की याद दिलाई और यह भी कहा कि वे राज्य के दिए हुए कई गाँवों की उपज लेते हैं, अतः उन से हाथी की चिकित्सा के लिए अवश्य कहना चाहिए। महाराजा ने इस मत को पसंद कर यति जी को हाथी को स्वस्थ करने को कहलाया। यति जी को पशुचिकित्सा का समुचित ज्ञान न होने से वे चिंतित हो उठे और इस कार्य के उपयुक्त किसी चतुर व्यक्ति की खोज में हुए। उन्हें श्री ज्ञानसार जी का स्मरण हुआ और तुरंत अपनी चिंता का कारण बता कर गजराज की चिकित्सा का भार उन पर सौंपा। श्री ज्ञानसार जी ने हाथी के रोग का निदान करके अपने असाधारण बुद्धि-वैभव से हाथी के पेट में उगी हुई वेलि को निकाल कर उसे पूर्ण स्वस्थ कर दिया।

जयपुर में १० चातुर्मास

इस घटना से महाराजा प्रतापसिंह जी चमत्कृत हो कर श्रीमद् के सद्गुणों के प्रति श्रद्धा रखने लग गए। श्रीमद् भी प्रायः राजसभा में जाया करते थे। राजकीय विद्वानों से विद्वद्-गोष्ठी कर अपनी विद्वत्ता से महाराजा को प्रभावित कर दिया, खास-खास प्रसंगों पर इन की उपस्थिति और आशीर्वाद परमावश्यक समझे जाते थे। इन आशीर्वादात्मक कवित्तों में से सं० १८५३ माघ बदि ८ को रचित 'समुद्रबद्ध प्रतापसिंह गुणवर्णन' पर 'स्वोपज्ञ-वचनिका' एवं 'कामोद्दीपन' ग्रंथ में दो सवैये उपलब्ध हैं।

राजाग्रह आदि कारणों से सं० १८५३ से सं० १८६२ तक, के १० चातुर्मास जयपुर में किए। वहां पर 'संबोध-अष्टोत्तरी' आदि ९ कृतियां रचीं। उस के बाद कृष्णगढ़ गए। सं० १८६३ से १८६८ तक के ६ चातुर्मास कृष्णगढ़ में किए। कृष्णगढ़ के राजा भी इन का बहुत सम्मान करते थे। यहां श्रीमद् प्रायः आध्यात्म-चिंतन किया करते थे, इन का आध्यात्म-अनुभव बहुत

कृष्णगढ़ में ६ चातुर्मास

बढ़ा-चढ़ा था। वहां श्रीमद् ने आनंदघन जी के गूढ़ रहस्यमय २२ तीर्थंकरों के स्तवनों पर विशद आलोचनात्मक 'बालावबोध' बना कर सं० १८६६ भाद्र व शुक्ला १४ को संपूर्ण किया। जिन स्तवनों पर वह सं० १८२९ से अब तक सतत मनन करते रहे थे उन पर अपने परिपक्व अनुभव का उपयोग करके उन्हों ने मुमुक्षु जनता का परम हित-साधन किया। प्रस्तुत 'बालावबोध' में इन का आध्यात्म अनुभव पद-पद पर झलकता है। भाषा प्रौढ़ और जैन शैली की राजस्थानी है। कृष्णगढ़ में इन के उपदेश से श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जी के मंदिर का जीर्णोद्धार और दंड-ध्वजारोपण समारोह से हुआ।

सं० १८६९ में वहां से विहार कर शत्रुंजय तीर्थ पधारे। फाल्गुन कृष्णा १४ को यात्रा कर वापिस बीकानेर आए। वृद्धावस्था के कारण उन्हों ने शेष जीवन यहीं बिताया।

बीकानेर में शेष जीवन-यापन

बीकानेर में उन का प्रभाव बढ़ता गया। उन का जीवन भी परम सात्विक और आध्यात्मिक था। अनेक लोक-प्रपंचों में भाग लेते हुए भी वह उदासीन एवं निर्लेप रहते थे।

इन दिनों परिग्रह का उन्हों ने सर्वथा त्याग कर दिया था, और एकांतवास उन को विशेष प्रिय था। बीकानेर के गोगा दरवाज़ा के बाहर वाला स्मशान (टटों की शाल) ही उन की तपोभूमि थी। कहते हैं कि पार्श्वपक्ष (देवता) उन के प्रत्यक्ष थे। वे समय-समय पर रात्रि में प्रकट हो कर नानाविध ज्ञानगोष्ठी एवं भूत-भविष्य-संबंधी बातें किया करते थे।

महाराजा सूरतसिंह जी की इन पर अत्यंत भक्ति थी। वे स्वयं इन के दर्शनार्थ अनेक बार पधारते, और पत्रव्यवहार बराबर होता रहता। महाराजा के लिखे २५ पत्र हमारे अन्वेषण में आए हैं। उन ख़ास रुक़्क़ों को पढ़ने से श्रीमद् के प्रति महाराजा क विनय, पूज्यभाव, अटल श्रद्धा, अविरल भक्ति, तलस्पर्शी हार्दिक भाव और अनेक ऐतिहासिक रहस्यों की जानकारी होती है। बीकानेर में रह कर उन्हों ने बहुत से ग्रंथों की रचना की। यहां की प्रवृत्तियों के बहुत से स्मारक अब भी विद्यमान हैं एवं आप से संबंध रखने वाले अनेक चमत्कारी प्रसंग सुनने में आते हैं।

स्वर्गवास

सं० १८८९ में आश्विन और मार्गशीर्ष के बीच, ९८ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त कर श्री ज्ञानसार जी स्वर्ग सिधारे। स्वयं ही अपनी आयु के संबंध में 'पार्श्वनाथ-स्तवन' में कहा है कि —

साठी बुध नाठी सब कहि है, असिय खिसी लोकोक्ति कही।
मैं तो अठाणुं ऊपर झेलुं, मो में बुद्धि कहो कहां ते रही॥
गौड़ी राय कहो बड़ी बेर भई।

उन का अग्निसंस्कार वर्तमान संखेश्वर पार्श्वनाथ जी के मंदिर के पीछे हुआ था। उस स्थान पर आज भी एक समाधि-मंदिर विद्यमान है, उस में प्रवेश करते ही सामने के एक आले में उन की चरणपादुकाएं प्रतिष्ठित हैं जिन पर निम्नोक्त लेख उत्कीर्ण है—

सं० १६०२ वर्षे माघ सुदि ६ पं० प्र० ज्ञानसार जी पादु......

शिष्य-परिवार

श्री ज्ञानसार जी के हरसुख (हर्षनंदन), खूबचंद (क्षमानंदन), सदासुख (सुख-सागर) नामक तीन शिष्य थे जिन में प्रथम दोनों की दीक्षा सं० १८५६ से पूर्व और तृतीय की सं० १८६७ से पूर्व हो चुकी थी। इन में से क्षमानंदन और सदासुख सं० १८६८ तक विद्यमान थे। एक बार खूबचंद की मरणांत अवस्था में श्री गौड़ी पार्श्व प्रभु की कृपा से शांति हुई थी, जिस का उल्लेख श्रीमद् ने स्वयं अपने 'गौड़ी पार्श्वनाथ-स्तवन' में किया है।

इन तीन शिष्यों के अतिरिक्त इन के शिष्य-प्रशिष्यों में से चतुर्भुज, भैर जी, किर-पाचंद, लछमन आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। इन में से चतुर्भुज जी के शिष्य जोर जी थे जिन का देहांत सं० १९५५ में हुआ था। बस यहीं से उन की संतति विच्छिन्न हुई।

वाह्य-मुद्रा

श्रीमद् का एक चित्र हमारे 'ऐतिहासिक जैनकाव्य-संग्रह' में प्रकाशित है; और भी कितने ही चित्र उपलब्ध हैं। श्रीमद् के वाह्य वेष-मुद्रा के संबंध में एक तत्कालीन पत्र महत्वपूर्ण है, अतः उस पत्र का आवश्यक उद्धरण नीचे दिया जाता है—

नुं नत्वा श्री बाबा जी साहिबां सौं बन्दना १०८ बार रिखड़े की। आपके गुणग्राम याद करता हुं। हूं किसी लाय (क) हुं नहीं कृतकृत्य क्योंकर हूंगा। मरणा तो आया, इहां कछु नहीं हुं कमाया एक आपके दर्शन तो पाया बाकी जनम ले गमाया।

अब वह मुनिमुद्रा कान पर चश्मा ओघा कंधे पर हस्त में तमाखू डब्बी, ठुमक ठुमक चाल, मुख से वचनामृत झरतादिक अनेक आनन्दकारी भावमयी माधुरी सूरत कब देखूंगा। धाया अब कहां दर्शन पाऊंगा, जो है पाया इस जन्म में और तो कछु

नहीं मैं कमाया, एक यही दर्शन अपूरब पाया, इस ध्यान से जनम जनम का पाप गमाया, इतना तो ख़ूब ही पुण्य कमाया आप ध्यान में मुझ निर्बुद्धि को रखोगे तो मैं धन्य धन्य कहाया, सिवाय इस के और कुछ है नहीं।

—पत्र बाबा जी श्री १०८ ज्ञानसार जी महाराज के चरणों में।

आत्म-परिचय श्रीमद् ने अपना किंचित् परिचय अपनी 'बहुत्तरी' के ५२वें पद में दिया है—

राग—आशा (नं० ५२)

साधो भाई निहचे खेल अखेला। सोहं निहचे खेला । सा०
ना हमरे कुल जात न पांता, एह मेरा आचारा।
मदिरा मांस विवर्जित जो कुल, उन घर में पैसारा।१। सा०
वर्जित वस्तु बिना जो देवे, सो सबही हम खावें।
उन्हों वा फासू अकरापित, धोवण जल सब पीवें।२। सा०
पड़िकमणा पांचू नहीं लाइक, सामायिक ले वैसें।
साधु नहीं जैन के जिन्दे, जिन घर बिन नहीं पसें।३। सा०
श्रावक साधु नहीं को साधवी, नहीं हमरे श्रावकणी।
सुधी श्रद्धा जिन सम्बन्धी, सो गुरु सोई गुरुणी।४। सा०
नहीं हमरे कोई गच्छ विचारा, गच्छ वासी नहीं निन्दें।
गच्छवास रत्नागर सागर, इन कुं अहनिश वन्दें।५। सा०
थापक उत्थापक जिन वादी, इन से रीझ न भीजें।
न मिलणो न निन्दन वन्दन, न हित अहित धरीजें।६। सा०
न हमरे इन रो वादस्थल, चरचा में नहीं खीजें।
क्रिया रुचि क्रिया न रागी, हम किरिया न पतीजें।७। सा०
किरिया बड़ के पान समाना, स्वतारक जिन भाखी।
सोई अवंचक वंचक सौं तो, चउगति कारण दाखी।८। सा०
पैं किरिया कारक कुं देखे, आतम अति ही हींसै।
पंचम काले जैन उद्दीपन, एह अंग थी दीसै।९। सा०

सब गच्छ नायक नायक मेरे, हम हैं सब के दासा।
पै आलाप संलाप न किणसुं, नहीं कोई हरख उदासा।१०। सा०
पड़कमणा पोसा न करावें, करता देख्यां राजी।
पच्चरवाणे व्याख्यान न आग्रह, आग्रह थी न विराजी।११। सा०
जो हमरी कोउ करे निन्दा, किंचित अमरस आवै।
फिर मन में जग रीति विचारें, तब अति ही पछतावै।१३। सा०
क्रोधी मानी मायी लोभी, रागी द्वेषी योद्धी।
साधुपना नो लेश न देश न, अविवेकी अपबोधी।१४। सा०
ए हमरी हम चर्या भाखी, पै इन में इक सारा।
जो हम ज्ञानसार गुण चीन्हें, तो हुवे भवदधि पारा।१५। सा०

उन्हों ने वृद्धावस्था में गच्छ परंपरादि से अलग होकर एकाकी रहने और विहार करने का उल्लेख 'आनंदघन चौबीसी बालावबोध' में इस प्रकार किया है—

हिवै पं० ज्ञानसार प्रथम भट्टारक खरतर गच्छ संप्रदायी वृद्धवयोन्मुखियै सर्व गच्छ परंपरा संबंधी हठवाद स्वेच्छायें मूकी एकाकी विहारियैं कृष्णगढ़ें सं० १८६६ बावीसी नुं अर्थ लिख्युं।

विनम्रता

यद्यपि श्रीमद् का अनुभव एवं ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था, फिर भी उन्हों ने कई ग्रंथों में मंद-बुद्धि आदि शब्दों द्वारा अपना परिचय देकर विनम्रता प्रदर्शित की है। देवचंद्र जी कृत 'साधुपद सभाय के बालावबोध' में लिखते हैं—

हुं महा निर्बुद्धि वज्रठार छुं जैनरो जिन्दो छुं म्हारो माजणो अति अल्प छै। सभाय कर्ता नो माजणों मोटो छै।

इसी प्रकार 'चौबीसी बालावबोध' आदि में भी अपनी लघुता व्यक्त की है। 'आत्म-निंदा' ग्रंथ तो उन की विनम्रता का प्रतीक है।

कला-विशारद

आध्यात्म-साधना और तत्वज्ञान के अतिरिक्त वैद्यक में भी श्रीमद् की अच्छी गति थी। लेखन-कला और तत्संबंधी सामग्री के निर्माण में वह अद्वितीय थे। उन के बनाए हुए पूठे, फाटिये, पटड़ी आदि आज भी नामांकित वस्तुओं में हैं, जिन की मज़बूती और सुंदरता की बराबरी

में दूसरे नहीं आ सकते। अब भी वे 'नारायणसाही' नाम से सुप्रसिद्ध हैं। लेखनशैली प्रौढ़ और लिपि बड़ी मनोहर थी। उन की हस्त-लिपि हमारे संग्रह में पर्याप्त है, जिन में से एक पत्र का फ़ोटो हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह' में प्रकाशित है। वह अनेक हुनर में निपुण थे, यह बात स्वयं 'बीसी' म लिखते हैं——

हुन्नर केता हाथे कीधा, ते पण उदय उपायें सीधा
जस उपजायो जस उदय थी, मंद लोभ ते मंदोदय थी ।।३।।
(१२वां स्तवन)

इस के संबंध में उन के गुण-वर्णनात्मक काव्यों में अन्य भक्तों ने भी कहा है कि——

कर्मे विश्वकर्मा सौ हुन्नर हजार जाके वैद्यन में जान सब ज्योतिष मंत्र तंत्र कौ ।।
(नवलराय कृत गुणवर्णन)

उन्हों ने कई विख्यात विद्वानों और कवियों की कृतियों पर विशद गद्य वचनिकाएं लिखी हैं, जिन से उन के स्पष्ट वक्तृत्व और निडर समालोचक होने का परिचय मिलता है। श्रीमद् आनदंघन जी की चौबीसी के बालावबोध में श्री ज्ञानविमलसूरि जी को खूब आड़े हाथों लिया है, और कई स्थानों में उन के बालावबोध की कड़ी समालोचना की है। अंत में उन्हों ने लिखा है कि——

समालोचक

ज्ञान विमल सूरि महापंडित हुंता, तेउ ए उपयोगी तीक्ष्ण प्रयूंज्यौ हुंत तौ तेउ तौ समर्थ अर्थकरी सकता पण तेउ ए तौ अर्थ करते विचारणा अत्यन्त न्यून जकरी नै मैं ज्ञानसार मारी बुद्धि अनुसारैं सं १८२९ थी विचारतै विचारतै सं० १८६६ श्री कृष्णगढ़ मध्ये टबो लिख्यौ परं मैं इतरा वरसां विचार विचारतां ही सी सिद्धि थई तेहवौ मोटौ पंडित विचार विचार लिखितौ तौ संपूर्ण अर्थ थातौ। परं ज्ञानविमल-सूरि जी यें तो असमझ व्यापारी ज्युं सौदो बेच्यौ करै, नफो तोरौ न समझै तिमि ज्ञानविमलसूरि जी यै पिण लिखतां लेखण न अटकावणी एज पंडिताई नौ लक्षणं निर्द्धार कीनौ अर्थ व्यर्थ अर्थ समर्थित नी गिणनां न गिणी।

इसी प्रकार स्पष्ट वक्तृत्व के नाते आनंदघन जी जैसे महापुरुषों पर भी एक जगह कुछ आलोचना की है। आध्यात्म-अनुभवी श्रीमद् देवचंद्र जी की दो कृतियों पर

उन्हों ने बालावबोध रचा। उन में भी कई स्थानों में उन की विशद समालोचना की है। 'साधु सभाय बालावबोध' में तो कई बातें बड़ी ही मनोरंजक और रहस्यमयी कह डाली हैं। उपयोगी होने से उन का कुछ अवतरण यहां देते ह :—

ध्रुव छै ए तो कथन क्षायिक भावै छै परंक्षायिक भावे आतम वित्त ने सिद्ध मां तो अभेदोपचारी पणुं छै ए विरोधाभास छै . . . .

एह वुं जे कह्युं ए क्षायिक भावे कथन ते विरोध इति सटंक। हिवै आगल सभाय नी गाथाओ मां स्यो वर्णन करस्यो। परं ए कविराज नी योजना नो एज सुभाय छै तेज बात नै गटर पटर आगे नी पाछे नी आगे हांकतो चाल्यो जाय ते तमे पोते विचारी लेज्यो संबन्ध विरुद्ध अंगोपांग भंग कविता वारंवार एक पद गुंथाणो ते पुनरुक्ति दूषण कविता ते एहीज सभाय में तमे ही जोर लेज्यो एक निज पद दस जाग्यां गुंथ्यौ छै ते गिण लेज्यो एकलो मुझने दूषण मत देज्यो। बीजु एह नो छूटक लिखत सप्त नयाश्रयी सप्त भंगाश्रयी चुस्त छै स्वरूप नी कथन नी योजना सेमां तो गटर पटर छै ए बिना बीजी सहित छूटक योजना सटंक छै। योजना करवी ए पिण विद्या न्यारी छै, कौमुदी कर्त्तायें शिष्य थी आद्य श्लोक करायो, आप थी न थयो। वलि ए बात खुली न लिखुं तो ए लिखत वांचण वालो मूर्ख शेखर जाणे ए कारण लिखुं। गुजरात में ए कहिवत छै—"आनन्दघन टंकशाली, जिनराजसूरि बाबा अबध्य बचनी, उ० यशोविजय टानर टुनरिया पोते थाप्यो तेज उथाप्यो उ० देवचंद्र जी ने एक पूर्व नुं ज्ञानहतुं ते थी गटर पटरिया, मोहन विजय पन्यास ते लटकाला मुझ नै आगल अर्थ लिखवुं छे ते अक्षर प्रमाणे अर्थ लिखीश किंहां सरखो अर्थ दीसे ते माहरो दूषण न काढस्यौ अक्षर विरुद्ध अर्थ माहरौ दूषण सही।

अठारहवीं शताब्दी में मोहन-विजय अति लोकप्रिय कवि हुए हैं उन के 'चंद-रास' का प्रचार बहुत जोरों से था। उस पर दोहों में जो सुंदर और सजीव समालोचना की है, वह समालोचना-पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है।

इस ग्रंथ का विशेष परिचय आगे दिया जायगा। कविवर बनारसीदास जी के 'समयसार' की भी कुछ आलोचना 'आत्मप्रबोध-छत्तीसी' में की है।

जयपुर और बीकानेर के नरेशों पर श्रीमद् के असाधारण प्रभाव का उल्लेख

आगे किया जा चुका है। इन के अतिरिक्त जैसलमेर-नरेश गजसिंह भी इन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे[1]। उदयपुर के महाराणा जवानसिंह जी से भी उन का अच्छा संबंध विदित होता है।

राज-सम्मान

कहा जाता है कि राणा जी की दुहागिन (कृपाहीन) राणी प्रतिदिन उन के पास आकर विनती किया करती थी कि 'गुरुदेव! ऐसा कोई यंत्र दीजिए जिस से महाराणा मेरे वश में हो जायँ।' उन्हों ने उसे बहुत समझाया, पर राणी किसी तरह न मान कर यंत्र देने के लिए विशेष हठ करने लगी। तब श्रीमद् ने उसे एक काग़ज़ पर कुछ लिख कर दे दिया। राणी की श्रद्धा और श्रीमद् की वचनसिद्धि से महाराणा की राणी पर पूर्ववत् कृपा हो गई। लोगों के भड़काने पर जब महाराणा ने यंत्र के संबंध में उन से पूछताछ की तो उन्हों ने कहा, 'राजन्! हमें इन सब कार्यों से क्या प्रयोजन?' अंत में यंत्र खोल कर पढ़ने पर 'राजा राणी सुं राजी, तो नारायणे ने कंइ, राजा राणी सुं रूसे, तो नारायणे ने कंइ' लिखा मिला। इसे देख कर महाराणा आप की निस्पृहता से बड़े संतुष्ट हुए। महाराणा के आशीर्वाद में एक कविता भी उपलब्ध है।

श्रीमद् ने सत्रहवीं शताब्दी के शेषार्द्ध के परम योगिराज आनंदघन जी की चौबीसी और बहुत्तरी पदों का चिंतन अपनी यौवनावस्था से प्रारंभ कर अंतिमावस्था पर्यंत किया था। अतः उन के जीवन पर आनंदघन जी के अनुभवों की गहरी छाप अंकित हो गई थी। आनंदघन जी के पद उन्हें अति प्रिय थे। उन के कई पदों के उद्धरण 'चौबीसी बालावबोध', 'आध्यात्मगीता बालावबोध' और 'साधु सझाय बालावबोध' आदि में दिए हैं। श्रीमद् के बहुत्तरी आदि पदों पर योगिराज आनंदघन जी के पदों का प्रभाव बिलकुल स्पष्ट है। इसी लिए कई आचार्यों ने उन्हें 'लघु आनंदघन' विशेषण से संबोधित किया है।

आनंदघन जी का प्रभाव

श्रीमद् के जीवन-चरित्र की बहुत बड़ी सामग्री हम ने संग्रह की है। परंतु विस्तार-भय से बहुत ही संक्षेप रूप से यह निबंध लिखा गया है।

---

[1] सुप्रसिद्ध राजमान्य पटवा सेठों के लिखे हुए पत्रों में रावल जी ने अप्रतिम भक्तिभाव प्रदर्शित करते हुए जैसलमेर पधारने की विनती लिखी है। ऐसे ४ पत्र हमारे पास हैं जिन के ऊपर महारावल जी ने स्वयं अपने हाथ से वंदना नमस्कार लिखा है। एक पत्र (खास रुक्का) रावल जी का स्वयं-लिखित भी हमारे संग्रह में है।

श्री ज्ञानसार जी के ग्रंथों का परिचय

हिंदी ग्रंथ

१. **पूरब देशवर्णन**——यह ग्रंथ उन के पूर्व देश भ्रमण और अनुभव का जीवित चित्र है। इस से बंगाल की तत्कालीन परिस्थिति, रीति-रिवाज, वेष, भाषा, लोक-व्यवहार, प्राकृतिक वर्णन का बहुत कुछ पता चलता है। हिंदी के देश-वर्णनात्मक स्वतंत्र काव्यों में संभवतः यह सब से विशद, लालित्यपूर्ण और बड़ा काव्य है। इस में १३२ त्रिभंगी और अंत में १ छप्पय कुल १३३ छंद हैं। एवं इस में राजस्थानी शब्दों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया गया है।

आदि——केई मैं देख्या देश विशेषा, नति रे अबका सब ही में।
जिह रूप न देखा नारी पुरुषा, फिर फिर देख्या नगरी में।।
जिहां काणी चुचरी अधरी बधरी, लंगुरी पंगुरी ह्वै काई।
पूरब मति जाज्यो पच्छिम जाज्यो दक्षिण उत्तर हे भाई।।१।।

अंत——घणुं घणुं क्या कहुं, कह्यौ मैं किंचित कोई।
सब दीठौ सब लहै, देश दीठौ नहीं जोई।
जाणी जेती बात, तिती मैं प्रगट कहाणी।
झूठी कथ नहीं कथी, कही है साच कहाणी।।
पिण रहिस हू इक बात नौ, तन सुख चाहै देह धर।
नारण धरी अरु क्या पहुर, रहै नहीं सो सुघड़ नर।।१३३।।

२. **कामोद्दीपन**——यह ग्रंथ वि० सं० १८५६ माधव शुक्ला ३ को जयपुर में महाराणा प्रतापसिंह की प्रशंसा में बनाया गया था। इस की भाषा विशुद्ध हिंदी है। उपमालंकारों की छटा और कवि की प्रतिभा पद-पद पर झलकती है। कामदेव के साथ महाराजा की तुलना करते हुए इस ग्रंथ का नाम भी 'कामोद्दीपन' रक्खा है। दोहा और सवैये कुल मिला कर १७७ पद्य हैं।

आदि——तारिन में चन्द जैसे, ग्रह गन दिनन्द तैसे,
मणिनि में मणिन्द त्यौं, गिरिन गिरिन्द यू।

सुर में सुरिन्द महाराज राज वृन्द हू में,
माधवेश नन्द सुख सुरतक सुकंद यू॥
अरि करि करिंद भूम भार कौ फणिन्द मनौं,
जगत को वंद सूर तेज तैं न मंद यू।
आशय समंद इन्दु सौं त्रुन्द ज्याकौ,
मदन कर गोविन्द प्रतपै, प्रताप नर इन्द यू॥१॥

अंत—ग्रंथ करौ षटरस भरौ, बरनन मदन अखंड।
जसु माधुरिता तैं जगति, खंड खंड भई खंड॥१७५॥
सुधरनि जन मन रस दियैं, रस भोगनि सहकार।
मदन उदीपन ग्रन्थ यह, रच्यौ रच्यौ श्रीकार॥१७६॥
जग करता करतार है, यह कवि वचन विलास।
पैं या मति को खंड दै, हैं हम ताके दास॥१७७॥

३. मालापिंगल—पिंगल के छंद-विज्ञान पर उदाहरण सहित १५४ पद्यों में यह ग्रंथ रच कर सं० १८७६ फाल्गुन कृष्णा ६ को संपूर्ण किया। इस की रचना 'रूपदीप', 'वृत्तरत्नाकर', 'चिंतामणि' आदि छंद-ग्रंथों के आधार से हुई है। नवकार वाली (माला) में १०८ मणके और २ मेरु होते हैं इस में भी ११० छंदों का वर्णन होने से इस का नाम भी 'मालापिंगल' रक्खा गया है।

आदि–दोहा—श्री अरिहंत सुसिद्ध पद, आचारज उवज्झाय।
सरब लोक के साधु कुं, प्रणमुं श्री गुरु पाय॥१॥
प्राकृति तें भाषा करूं, माला पिंगल नाम।
सुखै बोध बालक लहै, परसम को नहि काम॥२॥

अंत–दोहा—आदि मध्य मंगलकरण, संपूरन के हेत।
अन्तिम मंगल हर्ष कौ, कारण कवि संकेत॥१४५॥

... ...

चौपाई—रूपदीप तें बावन किये, वृतरत्न तैं केते लिए।
चिन्तामणि तैं केई देख, रचना कीनी कविमति पेख॥१५२॥

नहीं प्रस्तरन कर उदिष्ट, मेरु मर्कटीन कियौ नष्ट।
आधुन काली पंडित लोक, ग्रन्थ कठिन लखि देहै धोक ॥१५३॥
दोहा—इक सौ आठ दो मेरु के, वृत किये मतिमन्द।
यातैं याकूं भाखियौ, नामा माला छंद ॥१५४॥

४. चंद चौपाई समालोचना—जैन रास-साहित्य में श्री मोहनविजय जी कृत चंद राजा की चौपाई की बड़ी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि है। इस की रचना बड़ी मधुर और लालित्यपूर्ण होने से यह अधिक लोकप्रिय हो गई है। इस पर श्रीमद् ने हिंदी कविता में सुंदर प्रसादगुण-युक्त समालोचना लिखी है। इस में ४१ दोहे और ३ सवैये हैं। इन्हें पढ़ने से कवि के विशाल छंद-ज्ञान और काव्यकौशल का परिचय मिलता है। रास की समालोचना में उन्हों ने केवल दोषों का उद्घाटन ही नहीं किया है, किंतु प्रासंगिक दोहे स्थान-स्थान पर डाल कर रास की शोभा में चौगुनी वृद्धि की है। दोहे बड़े ही सरस हैं।

आदि—ए निश्चै निश्चै करो, लखि रचना को मांझ।
छंद अलंकारै निपुण, नहीं मोहन कविराज ॥१॥
दोहा छंदै विषम पद, कही तीन दस मात।
सम में ग्यारै हू धरै, छंद गिरंथै ख्यात ॥२॥
सो तो पहिलैं ही पदै, मात रची दो बार।
अलंकार दूषण लिखुं, लिखत चढ़त विस्तार ॥३॥

अंत—ना कवि की निन्दा करी, ना कछु राखी कान।
कवि कृत कविता शास्त्र की, सम्मति लिखी संयान ॥२॥
दोहा त्रिक दश च्यार सौ, प्रस्ताविक नवीन।
खरतर भट्टारक गच्छै, ज्ञानसार लिख दीन ॥३॥

५. प्रस्ताविक अष्टोत्तरी—विविध विषय के ११२ (कवि के कथनानुसार १०९) दोहों में प्रस्तुत रचना हुई है। दोहे के पूर्वार्द्ध में किसी प्रस्ताविक बात का निरूपण करके शेषार्द्ध में उदाहरण द्वारा उस की पुष्टि की गई है। नमूने के रूप में कुछ दोहे बीच-बीच से चुन कर यहां उद्धृत करते हैं—

आतमता परमात्मता लक्षणतायें एक।
यातें शुद्धातम नम्यै, सिद्ध नमन सुविवेक ॥१॥
मन निःशल्थ आलोवतां, सब अपराध खमात।
ज्यों कांटे की वेदना, निकसत टुक न रहात ॥३॥
मोल लियत दिक्षा दियत, संयम कहा पढ़ात।
ज्यौं संध्या के मृतक को, कौलौं रोवत रात ॥६॥
जौ लौं मुरदा न जलै, तौ लौं मृतक वैराग।
ज्यों सुपने की वेदना, तौ लौं न हुवत जाग ॥१७॥
दुष्ट संग बिन दुष्टता, कैसे हू न लखाय।
प्रगट देखिबे की गरज, कांजी दूध मिलाय ॥६१॥
गरभ वेदना निकसतैं बिसरत जगत तमाम।
सुरति समय पर प्रसव दुख, भूल जात ज्युं वाम ॥१०२॥
वृद्ध पुरुष हित सीख दै, सो नहीं मानत ज्वान।
कटुक लगै जुर में कटुक, ज्युं गुण करत निदान ॥१०३॥

६. **निहाल-बावनी**--यह ५२ गूढ़ार्थ वाले दोहों में बनी है। इस कारण कवि ने स्वयं इसे 'गूढ़ाबावनी' लिखा है। परंतु ये गूढ़े श्री निहालचंद जी को निर्देश कर कहे गए हैं, और प्रत्येक दोहे के अंत में 'निहाल' शब्द आने से इसे निहाल-बावनी कहते हैं। इस की रचना सं० १८८१ मार्गशीर्ष कृष्णा १३ को हुई थी।

आदि--चौंच आंख पर पाउं खग, ठाढ़ौ अम्बनि डाल।
हिलत चलत नहीं नभ उडत, कारण कौन निहाल ॥१॥--चित्रित
अंत--बिन पैड़ी चवदै चढै, समयन्तर कर काल।
मरण होत ही उड़ चलै, कारण कौन निहाल ॥५२॥--सिद्ध

७. **भाव-छत्तीसी**--इस में ३६ दोहे हैं। सं० १८६५ कार्तिक सुदि १ को कृष्णगढ़ में श्रावक के आग्रह से रची गई।

८ **चारित्र-छत्तीसी**--यह भी ३६ हिंदी दोहों में बनी हुई है। इस में दुःषम काल में शुद्ध चारित्र्य की दुर्लभता का वर्णन किया है। जैसलमेर के नंदलाल जी की स्त्री

मोतू, जो साध्वी चैना के पास दीक्षा लेने को उद्यत हुई थीं; उन्हें अयोग्य जान कर उत्साह मंद करने के लिए इस छत्तीसी का निर्माण किया।

९ **आत्मप्रबोध-छत्तीसी**--यह दोहा, चौपाई, सवैया, कुंडलिया, चंद्रायणा, आदि ३६ छंदों में है। जयपुर में ऋषभदास सरावगी के 'उत्तराध्ययनसूत्र' के बदले 'समयसार' का व्याख्यान करने के अनुरोध पर उस ग्रंथ के एकांतवाद की समालोचना रूप में यह छत्तीसी बनाई गई है।

१०. **मतिप्रबोध-छत्तीसी**--भाषा के छत्तीस दोहों में रची हुई है।

११. **बहुत्तरी आदि पद**--बहुत्तरी में ७३ पदों का सन्निवेश किया गया है। परंतु इस के अतिरिक्त और भी बहुत से हिंदी पद प्राप्त हुए हैं जिन की संख्या इतनी ही और होगी। इन में से पाठकों के अवलोकनार्थ दो पद नीचे दिए जाते हैं--

राग--सामेरी

औगुन किन के न कहियै रे भाई। औ०
आप भरे सब औगुन ही सें, औरन कुं क्या चहियै रे भाई॥१॥
डुंगर बलती देखैं सबही, पगतल कौन बतइयै।
लागी पगतल लाय बुझावौ, जो कछु तन सुख चहियै रे भाई॥२॥
आप बुरैं तैं है सब जग ही, आप भलैं ते भले ही हैं।
ज्ञानसार गिन गुण जपमाला निशदिन रटतैं रहियै रे भाई॥३॥

राग--सोरठ

कीकरां में रैन विहानी।
नींद न आवै नींद न आवै, नींद न आवै॥ की०
उदयैं आतम ज्ञान अर्क के रात विभाव विहावै॥१॥ की०
रुचि शुद्ध भावैं सहिज पसरतैं भ्रम तम कम न रहावै।
चकवा चकवी और भये तैं हिलमिल प्रीति बढ़ावै॥२॥ की०
लोभ लूक जब अन्ध भयौ तब विषयी चंद छिपावै।
ज्ञानसार पद चेत न पायौ, यातैं अलख कहावै॥३॥ की०

१२. **प्रतापसिंह समुद्रबद्ध काव्य**--और आशीर्वादात्मक काव्यादि।

राजस्थानी ग्रंथ

पद्य ग्रंथ——

१३. **चौबीसी**——सं० १८७५ मार्गशीर्ष सुदि १५, बीकानेर।

१४. **वीसी**——सं० १८७८ कार्तिक शुक्ल १, बीकानेर।

१५. **सैंतालीस बोल गर्भित चौबीसी स्तवन**——सं० १८५८ कार्तिक वदि १५, जयपुर।

१६. **संबोध-अष्टोत्तरी**——सं० १८५८ ज्येष्ठ सुदि ३, जयपुर।

१७. **जीवविचार-स्तवन**——सं० १८६१ माघ चतुर्थी, जयपुर।

१८. **दंडक-स्तवन**——सं० १८६१ पौष शुक्ल ७ सोमवार।

१९. **नवतत्व-स्तवन**——सं० १८६१ माघ कृष्ण १३ चंद्रवार, जयपुर।

२०. **हेमदंडक**——सं० १८६२ मार्गशीर्ष वदि १४, जयपुर।

२१. **बासठ यंत्र-रचना-स्तवन**——सं० १८६२ चैत्र शुक्ला ८, जयपुर।

२२. **नवपदपूजा**——सं० १८७१ माघ कृष्ण १३, बीकानेर।

२३. **दादा जी की पूजा।**

२४. **शत्रुंजय-स्तवनादि**——सं० १८६६ फाल्गुन कृष्ण १४।

गद्य ग्रंथ——

२५. **आनंदघन चौबीसी बालावबोध**——सं १८६६ भा० शु० १४, कृष्णगढ़।

२६. **देवचंद जी कृत आध्यात्मगीता बालावबोध**——सं० १८८० आषाढ़ शुक्ल-१३, बीकानेर

२७. **आनंदघन जी कृत बहुत्तरी के कुछ पदों पर बालावबोध।**

२८. **जिनप्रतिमा-स्थापन**——सं० १८७४ चैत्र सुदि ७ को वैशाली के श्रावक ने हिंदी भाषा में ४२ प्रश्न पूछे थे, उन का सप्रमाण उत्तर इस ग्रंथ में दिया गया है। अंत में हिंदी के प्रशस्त दोहे हैं।

२९. **देवचंद्र जी कृत साधु सभाय बालावबोध**——श्रीमद् देवचंद्र में प्रकाशित।

३०. **यशोविजय जी कृत तत्त्वार्थ गीत टवार्थ।**

३१. **पंच-समवाय-विचार।**

३२. **आत्मनिंदा।**

३३. **जिनमत व्यवस्था गीत स्वोपज्ञ वचनिका।**

३४. **हीयाली सोपज्ञ वचनिका।**

३५. **समुद्रबद्ध सोपज्ञ वचनिका**––सं० १८५३ माघ कृष्ण ८।

३६. **ज्वानसिंह आशीर्वाद स्वोपज्ञ वचनिका।**

इन में से केवल निम्नोक्त प्रतियां ही प्रकाशित हुई हैं—

१. **आनंद चौबीसी बालावबोध**––भीमसी माणक, बंबई से प्रकाशित।

प्रस्तुत संस्करण में ग्रंथ को गुजराती भाषा में परिवर्तन करके प्रासंगिक अनेक बातों को निकाल कर मनमाना प्रकाशित किया गया है।

२. **साधु सज्झाय टवार्थ**––आध्यात्म-ज्ञान-प्रसारक मंडल, पादरा से प्रकाशित।

३. **जीवविचार, नवतत्व, दंडक-स्तवन**––हमारे प्रकाशित 'अभयरत्नसार' आदि में प्रकाशित।

४. **दादाजी की पूजा**––जिनदत्तसूरि-चरित्र (उत्तरार्द्ध) में प्रकाशित।

५. **आत्मनिंदा**––और कतिपय पद भी प्रकाशित हो गए हैं।

अवशेष सभी ग्रंथों की प्रतिलिपि हमारे पास है, जिन्हें यथावकाश स्वतंत्र ग्रंथ-रूप से प्रकाशित करने का विचार है।

चकबस्त

[लेखक--डाक्टर ताराचंद, एम्० ए०, डी० फ़िल्० (ऑक्सन)]

सन् १८५७ के ग़दर के बाद हिंदुस्तान में जो बेबसी और असहायता की दशा उत्पन्न हुई, उस का आज अनुमान करना कठिन है। ग़दर ने न केवल हमारी राजनैतिक-शक्ति को मिटाया और हमारे जातीय आत्म-सम्मान को गहरी चोट पहुँचाई, उस ने जाति के संगठन को विच्छिन्न, हमारी संस्थाओं को निर्बल और हिम्मतों को पस्त कर दिया। पश्चिमी सभ्यता की नई रोशनी के सामने हिंदुस्तानी सभ्यता का दीपक मंद और फीका पड़ गया। जिस पीढ़ी ने ग़दर के हंगामों को देखा था उस, की सांस्कृतिक दशा शोचनीय हो गई। उसी को संबोधन करके कवि अकबर ने अपनी प्रसिद्ध कविता में कहा था—

क़फ़स है कम हिम्मती का सीमीं,
पड़े हैं कुछ दानाहाए शीरीं।
उन्हीं पै मायल है तबा शाहीं,
न बाल अब हैं न पर रहे हैं॥

लेकिन चौथाई सदी बाद जो नई पौध उगी, उस के मस्तिष्क से पुरानी भयावह घटनाओं की स्मृति दूर होने लगी। पश्चिमी धन के घमंड और शक्ति के गर्व ने उस के हृदयों पर ठेस लगाई, और हिंद की भूमि पर नई उमंगों और आशाओं का बीज बोया।

चकबस्त इसी परिवर्तन काल में उत्पन्न हुए। उन्हों ने अवध के सुल्तानों की राजधानी में, जो पुरानी संस्कृति का केंद्र थी, शिक्षा प्राप्त की। लखनऊ में अभी वह प्रभाव शेष थे, जिन पर पुरानी संस्कृति की छाप अंकित थी। ऐसे लोग मौजूद थे जिन की आँखों ने पुरानी संगतें देखी थीं। अंग्रेज़ी कालिज और लखनऊ के वातावरण में उन का मानसिक विकास हुआ, और उन दोनों का उन के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। चकबस्त उन लोगों में न थे जो एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा कर, पसीना बहा कर, कवि बनते हैं। कविता उन के स्वभाव में थी। बचपन से उन्हें शायरी का शौक़ था।

कविता कई प्रकार की होती है। एक कविता वह है जिस का रंग प्रेममय है और जिस में भावों का शासन है। इस कविता के प्रेमी बढ़ते हैं तो सूफ़ियों की भाँति बंधनों को तोड़ कर उन से ऊपर उठ जाते हैं। दूसरी कविता वह है जो सीमाओं को स्वीकार करती है। भावों से तो कोई भी कविता वास्तव में विमुख नहीं हो सकती, लेकिन यह दूसरे कवि ऐसे भावों की दासता नहीं स्वीकार करते जो बुद्धि से परे हों। यदि पहला वर्ग कल्पना-रूपी पक्षी को नीले आकाश में, दृष्टि की सीमा से परे, उड़ा ले जाना चाहता है तो दूसरा संभावनीय विशेषताओं के आकर्षक चित्र खींचने की आकांक्षा धारण किए है। चकबस्त सुरुचिपूर्ण व्यक्ति थे, सरलता और संस्कृति के प्रेमी, बेराहरवी, अतिशयोक्ति या झूठ से दूर थे। कठिन शब्दों के गोरख-धंधों से उन्हें घृणा थी। वह इस विचार के थे कि सचाई सफ़ाई का नाम है, इस लिए यदि विचारों में सचाई है तो उसे शब्दों की सफ़ाई में झलकना चाहिए।

यदि वर्णनशैली में उलझन है तो वह विचारों की गुत्थियों की ओर संकेत करती है। आतश के अनुसार कवि का कर्म जड़ाऊ काम करने वालों जैसा है। वह शब्दों के सच्चे नगीनों को ढूँढ़ता है और उन्हें अपनी जगह ठीक-ठीक बैठाता है। चकबस्त उन कलाकारों में से थे जिन्हों ने इस काम में कमाल हासिल किया था। शब्दों के विन्यास और प्रयोग, वर्णन में प्रवाह, और सरलता तो उन की भाषा का विशेष गुण था। इस के अतिरिक्त उन का भाषा पर अधिकार सुंदर शब्दों के चुनाव से प्रकट होता है। उन के शब्दों में माधुर्य और सामंजस्य है, सुरुचि और सांस्कृतिक मस्तिष्क की छाप है, ओज है, प्रवाह है। लाला श्रीराम अपने 'खुमखानए-जावेद' नामक इतिहास में चकबस्त के विषय में लिखते हैं—

"इस में शक नहीं कि अकसर बंद हद दर्जे मुअस्सर और पुर दर्द होते हैं। और सफ़ाई और सादगी से ख़ाली नहीं। मगर ख़याल की बलंद परवाज़ी और शौकत अलफ़ाज़ बहुत ज्यादः है। मनाज़र के सीन, मुख्तलिफ़ जज़बात के फ़ोटो, हुब्ब वतन, अदब व अख़लाक की दिलफ़रेब तसावीर तो कसरत से दिखाई देती हैं। महज़ हुस्न व इश्क के चरचे बहुत कम। वाक़यात के नज़्म करने में आप की क़ाबिलियत और मश्शाक़ी मुसल्लम है। एक छोटा और मामूली वाक़या बयान करने के लिए पहलू बदल-बदल कर कई-कई बंद मुसल्सल लिख जाते हैं। तशबीहात ख़ूब बरतते हैं। बाज़ जगह असलूब बयान में ऐसी

रवानी और दिलकशी होती है कि असातज़ा के कलाम का धोका होता है। रामायन के जो सीन आपने नज़्म किए हैं उन की दिलचस्पी व दिलफ़रेबी हद तौसीफ़ के बाहर है।"

यह लेख उस समय का है जब चकबस्त की अवस्था केवल अठाइस वर्ष की थी। उस समय इस उदीयमान कवि के जीवन के सोलह सफल वर्ष शेष थे।

चकबस्त कवि थे और आलोचक भी। उर्दू कविता साधारण रीति से, और उस ज़माने की कविता विशेष रूप से, एक सीमित प्रकार की कविता थी। कुछ इने-गिने विचार उस की पूँजी थे और एक विशेष जीवन-दर्शन उस का प्राण था। इन्हीं बुनियादों पर शब्दों को उलट-फेर कर पद्य बना देने का नाम कविता था। अच्छे कवि शब्दों के चुनाव और उन के हेर-फेर में कविता की विशेषता समझे हुए थे। चकबस्त कविता के इस पहलू को अंगीकार करते थे लेकिन उन की व्यापक दृष्टि इस से ऊँची थी। वह आतश, ग़ालिब, अनीस के प्रेमी थे। विचारों की नवीनता को कविता का जरूरी अंग समझते थे। अपनी कविता के संबंध में वह अत्यंत विनम्रता के साथ कहते हैं—"अपने दोस्तों का दिल बहलाने के लिए कभी-कभी शेर कह लेता हूं। पुराने रंग की शायरी यानी ग़जलगोई से नाआश्ना हूं। लेकिन उसी के साथ मेरा अक़ीदा यह है कि महज़ नए ख़याालात को तोड़-मरोड़ कर नज़्म कर देना शायरी नहीं है। मेरे ख़याल के मुताबिक़ ख़यालात की ताज़गी के साथ ज़बान में शायराना लताफ़त और अल्फ़ाज में तासीर का जौहर होना ज़रूरी है। लेकिन मैं आप को फिर लिखता हूं कि मैं कद्रदां सख़ुन हूं सख़ुनवर नहीं हूं। जिस का नाम शायरी है वह और चीज़ है, जो बल्हाल मुझे नसीब नहीं।"

चकबस्त की कविताओं का संक्षिप्त संग्रह 'सुबह वतन' के नाम से उन की मृत्यु के साल सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ। उस में ३६ मुक्तक कविताएं हैं और लगभग ४० ग़ज़लें, कुछ रुबाइयां और कुछ स्फुट शेर। पुस्तक में कुल मिला कर १७७ पृष्ठ हैं। मुक्तक कविताओं में कुछ राष्ट्रीय हैं जिन का संबंध राष्ट्रीय आंदोलन के किसी न किसी अंग से है, अथवा जिन में देश-प्रेम की भावना प्रेरक रूप में उपस्थित है।

कुछ शोक-पद्य हैं जो देश के नेताओं या अपने मित्रों की मृत्यु की स्मृति में लिखे गए हैं। कुछ कविताएं राष्ट्रीय सुधार के उद्देश्य से लिखी गई हैं। कुछ में सांस्कृतिक विचारों का विवेचन हुआ है और कुछ में ऐतिहासक घटनाएं पद्य-बद्ध हुई हैं। तीन चार

कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण हुआ है और एक में लखनऊ के इमामबाड़े का बयान है। संग्रह में मुक्तक भाग ही अधिक है।

चकबस्त के राष्ट्रीय पद्यों की विशेषता यह है कि वह धार्मिक संकीर्णता और दलबंदी की भावना से सर्वथा मुक्त है। उन का देश-प्रेम यथार्थ में समस्त देशवासियों का प्रेम है। कहते हैं —

बलाए जां हैं यह तसबीह और जुन्नार के फंदे,
दिले हक़बीं को हम इस क़ैद से आज़ाद करते हैं।
अज़ां देते हैं बुतख़ाने में जाकर शान मौमिन से,
हरम में नारए नाक़ूस हम ईजाद करते हैं।

हिंद की धूल का महत्व वर्णन करते हैं तो बताते हैं :—

गौतम ने आबरू दी इस माबदे कुहन को,
सरमद ने इस ज़मीं पर सदक़े किया वतन को,
अकबर ने जामे उल्फ़त बख़्शा इस अंजुमन को,
सींचा लहू से अपने राना ने इस चमन को,
सब सूर बीर अपने इस ख़ाक़ में निहां हैं,
टूटे हुए खँडर हैं या उनकी हड्डियां हैं।

यही प्रेम प्रकारांतर से इन पंक्तियों में प्रकट है :—

यही पयाम है कोयल का बाग़ के अंदर,
इसी हवा में है गंगा का ज़ोर आठ पहर,
हिलाले ईद ने दी है यही दिलों को ख़बर,
पुकारता है हिमाले से अब्र उठ उठ कर,
तलब फ़ुज़ूल है काँटे की फूल के बदले,
न लें बहिश्त भी हम 'होम रूल' के बदले।

और भी लिखते हैं :—

किया है फ़ाश परदा कुफ़्रो दीं का इस क़दर मैंने,
कि दुश्मन है बिरहमन औ' अदू शेख़े हरम मेरा।

अगर वह देश की सेवा के लिए पुकारते हैं तो हिंदू और मुसलमान दोनों को बराबर—

भँवर में क़ौम का बेड़ा है हिंदुओ हुशियार,
अँधेरी रात है, काली घटा है औ' मझधार,
अगर पड़े रहे ग़फ़लत की नींद में सरशार,
तो ज़ेरे मौज फ़ना होगा आबरू का मज़ार,
मिटेगी क़ौम यह बेड़ा तमाम डूबेगा,
जहां में भीष्म व अर्जुन का नाम डूबेगा।

दिखादो जौहरे इस्लाम ऐ, मुसलमानो,
विक़ारे क़ौम गया क़ौम के निगहबानो,
सितून मुल्क के हो, क़द्र क़ौमियत जानो,
जफ़ा वतन पे है, फ़र्ज़े वफ़ा को पहचानो,
नबी के ख़ल्क़ो मुरव्वत के वरसादार हो तुम,
अरब की शान हमीयत की यादगार हो तुम।

हिंदुस्तान के इतिहास में—अपने पूर्वजों में—जो उन की आस्था है, उस का यदि एक ओर रामायन के एक सीन में पूरा-पूरा प्रदर्शन है तो दूसरी ओर आसफ़ुद्दौला के इमामबाड़े में। इमामबाड़े को अवध की सभ्यता के लिए गर्व का विषय बता कर कहते हैं —

जिस के फ़ैज़ान हकूमत का करिश्मा है यह,
इस के साये में है सोया हुआ वह ख़ल्क नवाज़,
उस की हिम्मत की बलंदी है बलंदी इस की,
उस के इख़लाक़ की वसअत का है इस में अंदाज़,
जब ज़ियारत में मुहर्रम को बशर आते हैं,
चाँदनी रात में आती है फ़लक से आवाज़—
"बे अदब पा मनेह ईजां कि अजब दरगाहस्त,
सिज्दागाहे मलको रौज़ए शहंशाह अस्त।"[1]

---

[1] ऐ बेअदब इस जगह पैर न रख, क्योंकि यह अजीब दरगाह है। यह फ़िरिश्तों के सिजदा करने की जगह है और शहंशाहों की यह समाधि है।

चकबस्त के राष्ट्रीय पद्यों की एक विशेषता यह है कि उन के भावों में निग्रह और उन के प्रकाशन में मध्यम मार्ग का अनुसरण है। वह देशरूपी बाटिका के वसंत के पुजारी हैं, भारत-भूमि को स्वर्गतुल्य प्रतिष्ठित समझते हैं। वह उस की फूल-फुलवारियां, सावन की काली घटाओं, बरसात की हल्की फुहारों, कोयलों की कूक, मोरों के स्वर, गंगा और जमुना की लहरों के मतवाले हैं। लेकिन उन्हें अपने देश की जो वस्तु सब से प्यारी है वह यहां की पुरानी सभ्यता है। इस सभ्यता की नींव ज्ञान और संस्कृति पर है, मनुष्य-मात्र के प्रेम, सहानुभूति, ईमानदारी, सफ़ाई, और ईश्वर के भय पर है। वह हिंदुस्तानी सभ्यता के इन वास्तविक विशेषताओं पर मुग्ध हैं, परंतु वह सुधारवादी हैं और निरक्षरता, अन्याय, विलासिता, और दिखावे के दुश्मन हैं। पश्चिमी सभ्यता से उन्हें विरोध नहीं, प्रदर्शन से बैर है। देश की लड़कियों को वह इस प्रकार संबोधन करते हैं—

नक़्ल यूरप की मुनासिब है मगर याद रहे,
ख़ाक में ग़ैरते क़ौमी न मिलाना हरगिज़।

लेकिन यूरप की नक़्ल का क्या अर्थ है, वह सुनिए :—

मस्त हों हुब्बे वतन से कोई मैख़्वार नहीं,
मुझ को मग़रिब की नुमाइश से सरोकार नहीं।
अपने ही दिल का प्याला पिए मदहोश हूं मैं,
जूठी पीता नहीं मग़रिब की वह, मैनोश हूं मैं।

और साफ़-साफ़ कहते हैं :—

हज्जे अकबर से जो यूरप के हुए हैं मुमताज़,
है वतन में भी ग़रीबुल्वतनी पर उन्हें नाज़,
बैर यारान तरीक़त से है ग़ैरों से है साज़,
वह बनाई हुई चितवन वह अनैले अंदाज़,
लबो लहजे में लगावट है तरहदारी है,
एक फ़क़त रंग पै क़ाबू नहीं, लाचारी है।
उन को तहज़ीब से यूरप की नहीं कुछ सरोकार,
ज़ाहिरी शानो नुमाइश पै दिलोजां है निसार,

हैं व सीने में कहां ग़ैरते क़ौमी के शरार,
जिन से मग़रिब में हुए ख़ाक के पुतले बेदार,
सैर यूरप से यह इख़लाक़ो अदब सीखा है,
नाचना सीखा है और लह्वोलअब सीखा है।

उन के पद्यों में अतिशयोक्ति नहीं, लेकिन सचाई की गूँज है। माना कि चकबस्त के पद्य भावों में बेचैनी और उथल-पुथल नहीं पैदा करते, लेकिन उन में दर्द है। यह भावों द्वारा हमारे मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं, और हमारी बुद्धि पर प्रभाव डालते हैं। 'दर्द दिल' का पहला बंद देखिए :—

दर्द है दिल के लिए और दिल इंसां के लिए,
ताज़गी बर्गो समर की चमनिस्तां के लिए,
साज़ आहंग जनूं, तार रगे जां के लिए,
बेख़ुदी शौक़ की सुझ बे सरोसामां के लिए,
क्या कहूं कौन हवा सर में भरी रहती है,
बे पिए आठ पहर बे-ख़बरी रहती है।

जीवन के दर्शन को एक शेर में बाँधा है :—

फ़ना का होश आना जिंदगी का दर्दे सर जाना,
अजल क्या है ख़ुमारे बादए हस्ती उतर जाना।

मिसेज़ बीसेंट के सामने देशभक्ति का संदेश प्रस्तुत करते हैं :—

हो चुकी क़ौम के मातम में बहुत सीनाज़नी,
अब है इस रंग का संन्यास, यह है दिल में ठनी,
मादरे हिंद की तस्वीर हो सीने पै बनी,
बेड़ियां पाँव में हों और गले में कफ़नी,
हो यह सूरत से अयाँ आशिक़े आज़ादी है,
क़ुफ़्ल है जिन की ज़ुबां पर यह वह फ़रयादी है।

आज से शौक़ वफ़ा का यही जौहर होगा,
फ़र्श काँटों का हमें फूलों का बिस्तर होगा,
फूल हो जायगा छाती पै जो पत्थर होगा,
क़ैदख़ाना जिसे कहते हैं वही घर होगा,

संतरी देख के उस जोश को शरमाएँगे,
गीत ज़ंजीर की झंकार पर हम गाएँगे।

चकबस्त के जीवन का वह भाग जब कि उन के मस्तिष्क और हृदय पर ज़माना अपने प्रभाव डाल रहा था, हिंदुस्तान के इतिहास में अद्भुत संघर्ष का समय था। क़ौम के दिल में निराशा और उत्कंठा की लड़ाई चल रही थी। परिस्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

गुलशने क़ौम में है पेशनज़र रंग अजीब,
फ़ितने जागे हुए हैं, ख़्वाब गरां में हैं नसीब,
दिल मुहब्बत से ख़फ़ा है, तो मुरव्वत के रक़ीब;
दूर है दिल से जो आँखों से हैं हरवक़्त क़रीब,
अब वह पहले की मुहब्बत, वह भलाई है कहां,
दिल के आईनों में अगली सी सफ़ाई है कहां।

निराशा और उत्कंठा का संघर्ष चल रहा है।

यास कहती है कि जमने का नहीं रंगे चमन,
आरज़ू कहती है अगला सिलसिला टूटे नहीं।

चकबस्त की कविता में दुःख व वेदना का अंश बहुत प्रकट है। जाति के कई नेताओं की मृत्यु पर शोकोद्गार और युवक मित्र, तथा अन्य निकट संबंधियों की मृत्यु पर विलाप उन के काव्य में विशेष स्थान रखते हैं। उन के हृदय में ट्रेजेडी से अनुकूलता मालूम होती है। दुख-दर्द भरी दास्तानों का बयान, करुणा भरे चित्रों का चित्रण, उन की चमत्कारी लेखनी की विशेषताएं हैं। ऐसे पद्यों में भी जिन के शीर्षक शोकमय नहीं हैं, हम दर्द की कसक पाते हैं। शायद अंग्रेज़ी कवि के इस उद्गार का उन पर प्रभाव रहा था कि हमारे मधुरतम संगीत वह हैं जो सब से दुखभरे विचारों को व्यक्त करते हैं।[1] स्वयं कहते हैं—"मुहब्बत है मुझे कोयल के दर्दंगेज़ नालों से।"

निराशा की कल्पना बहुधा उदासीनता उत्पन्न करनेवाली, उत्साह को भंग करने वाली और जीवन को विचलित करने वाली होती है। लेकिन चकबस्त के यहां उस का

---

[1] शेली, 'अवर स्वीटेस्ट सांग्स अर दोज़ दैट टेल अव् सैडेस्ट थाट्स'।

यह रूप नहीं है। यद्यपि 'मातमेयास' में वह अत्यंत दुःख और वेदना की दशा में यह पुकार उठते हैं—

इंतिज़ामें देह्र में आख़िर है यह तदबीर क्या?
ख़्वाब दुनिया है तो है इस ख़्वाब की ताबीर क्या?

परंतु वह सब्र को हाथ से नहीं खोते। अपने मित्र की मृत्यु पर लिखते हुए वह अपनी कविता इस शेर से समाप्त करते हैं—

सफ़र इस रूह का भी तै हो रहमत के उजाले में,
ख़ुदा बख़्शे बहुत सी ख़ूबियां थीं मरने वाले में।

और बालगंगाधर तिलक की मृत्यु पर लिखते हुए तो वह अपने शोक के स्वर को वीरता और उत्कर्ष के स्वर में छिपा देते हैं। कहते हैं—

शोर मातम न हो झंकार हो जंजीरों की,
चाहिए क़ौम के भीषम को चिता तीरों की।

पंडित बिशननारायन दर पर उन की विशेष रूप से आस्था थी। उन्हें अपना मित्र, आदरणीय, तथा गुरु मानते थे। उन की पूजा करना अपना धर्म और उन की भक्ति में मरना अपना गौरव समझते थे। उन की मृत्यु पर लिखते हैं तो आरंभ इस प्रकार करते हैं—

दिले मायूस मुहब्बत का इज़ाख़ाना है,
अपनी आँखों में यह दुनिया नहीं वीराना है।

लेकिन निराशा को अपने ऊपर इस तरह विजय नहीं पाने देते कि आँसुओं की झड़ी में उन के जीवन के कारनामे आँखों से ओझल हो जाएं। यह मृत्यु का शोक मनाने वालों का रुदन मात्र नहीं है; मरने वाले की विशेषताओं का ऐसा वर्णन है, जिस में उन को विनाश के पंजे से छुटा कर अनंत जीवन प्रदान कर दिया गया है। यों भी चकबस्त की निराशा उस ग़रीब हिंदू विधवा की निराशा नहीं, जिस का जीवन अपने पति की मृत्यु के बाद वह समाप्त न होने वाली रात है जिस के भाग्य में सूर्योदय देखना नहीं, न उस प्रवासी की निराशा है जो देश से दूर किसी पराए घर में अपने जीवन की अंतिम घड़ियां गिन रहा है, और जिस के भाग्य में अपनी स्त्री और बच्चों को देख कर अपनी आँखों को ठंडा करना नहीं। उन की निराशा दिल को पस्त करने वाली और जीवन बुझाने वाली निराशा नहीं।

उस में दुःख का अंश है, लेकिन वह दुःख जो "सरापा बरवते हस्ती से हम आग़ोश है," और जो मानवी मुख के लिए उबटन का काम देता है। कौन देशभक्त ह जिस का दिल जाति की सांस्कृतिक और समाजी कमज़ोरियों को देख कर टूक-टूक न हो जाता हो? चकबस्त अगर उस का उपालंभ करते हैं तो क्या अनुचित है :—

क़ौम की शीराज़ा बंदी का गिला बेकार है,
रंग हिंदू देख कर तर्ज़े मुसल्मां, देख कर।
दीदनी है बेख़ुदी वारफ़्तगाने शौक़ की,
ख़ुद बख़ुद हँसते हैं वह चाके गरेबां देख कर।

लेकिन उन्हें इस बात का अनुभव है कि यह मूर्छा की दशा है, मृत्यु की नहीं। इसी लिए उन के यहां निराशा उत्कंठा से संयुक्त है। यह अपने हृदय में नए क्षितिज पर नया सूर्य देखने की अभिलाषा लिए हैं —

यह आरज़ू है कि मेह्रो वफ़ा से काम रहे ;
वतन के बाग़ में अपना ही इंतज़ाम रहे।
नई शराब, नया दौर औ' नया साक़ी ;
मए सरूर में दौरो हरम की नाचाक़ी।
यही किसी का हरम हो किसी का दैर रहे ;
यह मैकदा रहे आबाद, ख़ुम की खैर रहे।

इस अभिलाषा की पूर्ति का क्या ढंग है? इस के दो उत्तर मिलते हैं। एक—

ग़म नहीं दिल को यहां दीन की बरबादी का ;
बुत सलामत रहे इंसान की आज़ादी का।

दूसरा—

किया है फ़ाश पर्दा कुफ़्रो दीं का इस क़दर मैंने ;
कि दुश्मन है बिरहमन औ' अदू शेख़े हरम मेरा।

लेकिन यह उन के विचारों का ध्वंसात्मक अंग है। परंतु कवि कभी केवल एक अंग पर प्रकाश डालने से संतुष्ट नहीं हो सकता, यद्यपि यह आवश्यक है कि उन विचारों का उन्मूलन हो जो जातीय मेल और उन्नति के मार्ग में कठिनाइयां पैदा करते हैं। कौन नहीं जानता कि आधुनिक समय में इस अभागे देश में धर्म व मज़हब की आड़ में क्या क्या

शिकार खेले जा रहे हैं ? निजी उद्देश्य की पूर्ति के लिए धर्मांधता को कितना उकसाया जा रहा है। यदि धर्म के अर्थ रक्तपात और परस्पर बुरा कहने के हैं तो बहुत से लोग उन धर्माध्यक्षों को जो मानव-प्रेम को सर्वोपरि धर्म नहीं समझते दूर से सलाम करेंगे, और चकबस्त से सहमत होंगे—

रहते हैं सदा फ़िक्र में उक़बा की गिरफ़्तार,
दुनिया के फ़रायज़ से नहीं उन को सरोकार।
यूं जादए तसलीमों रज़ा मिल नहीं सकता,
इन में वह ख़ुदी है कि ख़ुदा मिल नहीं सकता।

लेकिन चकबस्त के विचारों का एक सृजनात्मक पहलू भी है। वह हिंदुस्तानी सभ्यता को ज्ञान और संस्कृति की नींव पर स्थापित करना चाहते हैं। उन का विचार ठीक ही है कि "जुन्नार पहनने से बिरहमन नहीं होता।" बल्कि—

मज़हब बजुज़ इख़लाक़ रवा हो नहीं सकता,
मानी से कभी लफ़्ज़ जुदा हो नहीं सकता।

धर्म का मतलब क्या है ? "कृष्ण कन्हैया" के अंतिम बंद में देखिए :—

फिर हो दुनिया में किसी हस्तिए कामिल का ज़हूर,
दिल में जिस के हो समाया हुआ ख़िदमत का सुरूर,
जज़्बए ख़ैर की हो जिस को परस्तिश मंज़ूर,
बादए शौक से हों जिस की निगाहें मख़मूर,
दिल की तसख़ीर करे अंजुमन आरा हो कर,
हो न दुनिया से ख़फ़ा दीन का प्यारा हो कर।

विविधता से एकता का पाठ प्राप्त करना, वेदांत या मारफ़त के प्रकाश से मस्तिष्क और हृदय को प्रकाशित करना है—

जिस से इंसान में है जोशे जवानी पैदा,
उसी जौहर से है मौजों में रवानी पैदा।
रंग गुलशन में फ़िज़ा, दामने कुहसार में है,
ख़ूं रगे गुल में है नश्तर की ख़लिश ख़ार में है।

तमकनत हुस्न में है, जोश है दीवाने में,
रौशनी शमा में है नूर है परवाने में।
रंगो बू हो के समाया वही गुलजारों में,
अब्र बन कर वही बरसा किया कुहसारों में।
शौक़ हो कर दिले मजमून पै छाया है वही,
दर्द बन कर दिले शायर में समाया है वही।
नूर ईमां से जो पैदा हो सफ़ा सीने में,
अक्स उस का नजर आता है इस आईने में।

चकबस्त की रचनाओं का अध्ययन हमारा ध्यान कवि की कृतियों की उन विशेषताओं की ओर आकर्षित करता है, जिन का कवि की प्रकाशित कविता में केवल आरंभ दिखाई देता है। यदि जीवन साथ देता तो उस परिपक्व काव्य-पारखी कवि की कल्पना की उड़ान उसे कहां से कहां ले जाती उस का अनुमान नहीं हो सकता! तैंतालिस वर्ष की छोटी आयु में उस का मस्तिष्क उन दर्जों को पार कर के जिन में मानवी बुद्धि व्यक्ति और समाज के जीवन के प्रकट और स्थूल मंतव्यों को पहचानती है, उन गहराइयों की थाह लेने में लगा था जिन का संबंध वास्तविक दर्शन से है। शोक है कि काल ने अवसर न दिया और उर्दू कविता को प्रेम और वेदांत के उस पूरे संदेश से रहित कर दिया जिसे सुनाने के लिए एक सच्चा देशभक्त और विशाल-हृदय कवि तैयारी कर रहा था। बहुत सी आशाएं मिट्टी में मिल गईं।

समालोचना

समाज के स्तंभ (नाटक)——मूल-लेखक हेनरिक इब्सन। अनुवादक, श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र। प्रकाशक, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। मूल्य १)

गुड़िया का घर (नाटक)——मूल-लेखक हेनरिक इब्सन। अनुवादक, श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र। प्रकाशक, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। मूल्य १)

आधुनिक हिंदी नाटचसाहित्य इतना संपन्न नहीं कि वह विदेशी नाटचकारों की कृतियों की उपेक्षा कर सके। बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि पाश्चात्य नाटच-साहित्य की उत्तम उत्तम रचनाओं को हिंदी में प्रस्तुत किया जाय। इस में संदेह नहीं कि नाटच-व्यवस्था की दृष्टि से हमें बहुत कुछ पश्चिमी नाटकों से सीखना है। इस दिशा में कुछ काम हिंदुस्तानी एकेडेमी और अन्य प्रकाशकों ने भी किया है, लेकिन फिर भी यह क्षेत्र अछूता ही कहा जायगा। इस दृष्टि से भारती-भंडार के इन दो प्रकाशनों का स्वागत होना चाहिए।

हेनरिक जोहान इब्सन (१८२८-१९०६) नार्वे का निवासी और, कवि तथा नाटचकार दोनों ही था। विशेष ख्याति उस ने नाटक के क्षेत्र में ही पाई। यूरोप के उन्नीसवीं सदी के साहित्यिकों में उस की बड़ी धाक थी और यूरोप की सभी भाषाओं में उस के नाटकों के अनेक अनुवाद और रूपांतर मिलते हैं। उसे नाटचमंच की आवश्यकताओं का विशेष ज्ञान था क्योंकि बर्जेन के थियेटर के प्रबंधकों में यह बहुत समय तक रहा है। राजनीति और सामाजिक प्रश्नों में उस की गहरी अभिरुचि थी और यह प्रश्न उस की रचनाओं में भिन्न भिन्न समस्याओं के रूप में बार बार उठते हैं। इसी से बहुत से आलो-चकों ने उसे समस्या-नाटकों का प्रवर्तक बताया है। बर्नर्ड शा उस की कृतियों पर विशेष रूप से मुग्ध रहा है और उस से प्रभावित भी बहुत रहा है। यहां तक कि शा ने इब्सन को नाटच-रचना में शेक्सपियर से बड़ा माना है। ऐसे नाटचकार की रचनाओं के हिंदी अनुवाद की आवश्यकता सिद्ध करना व्यर्थ है। जो दो नाटक अनुवाद के लिए चुने गए

हैं, दोनों ही बहुत विख्यात हैं और इब्सन की रचनाओं में विशेष स्थान रखते हैं।

'समाज के स्तंभ' सन् १८७७ में प्रकाशित हुआ था, और इस के संबंध में यह कहा जाता है कि इस का शीर्षक, इब्सन के इस वर्ष के अनंतर प्रकाशित होने वाले सभी नाटकों के लिए लागू हो सकता है। इब्सन के विचारों में दो विचार प्रधान रहे हैं। एक तो उस ने व्यक्ति की महत्ता पर विशेष ज़ोर दिया। उस ने बताया है कि यदि हम वास्तव में एक संस्कृत समाज की भविष्य में आशा करते हैं तो हमें व्यक्तियों को स्वतंत्र विकास का अवसर देना चाहिए। दूसरे यह कि संसार में जो सब से बड़ी ट्रैजेडी या दुर्घटना हो सकती है वह है किसी व्यक्ति का प्रेम से वंचित रहना। इन दो मूल मंतव्यों के आधार पर, चरित्रों के उलट-फेर से उस के प्रायः सभी नाटक रचे गए हैं।

'गुड़िया के घर' में जो १८७९ की रचना है, हमें इब्सन की शैली का उत्कृष्ट उदाहरण मिलेगा। अनेक आलोचकों ने स्वीकार किया है कि इस नाटक में हमें इब्सन के व्यक्तित्व-संबंधी सिद्धांत का सर्व-प्रथम दृढ़ निदर्शन मिलता है। जिस समय यह नाटक लिखा गया, उस समय इब्सन व्यक्ति और समाज के बीच में होने वाले संघर्ष के प्रश्न में दिलचस्पी ले रहा था। इस नाटक में उस ने अपने मत के प्रतिपादन के लिए एक स्त्री-पात्र चुना है। इस से यह न समझना चाहिए कि उस ने स्त्रियों की स्वतंत्रता संबंधी अंदोलन के समर्थन में यह रचना लिखी। इस का रहस्य केवल इतना है कि उस ने यह समझा कि स्त्रियां जीवन पर जिस प्रकार से व्यक्तिगत रूप से दृष्टि डालती हैं, उस प्रकार परुष नहीं।

वास्तव में इस नाटक में दो प्रसंग अलग अलग चलते हैं। एक वह जिस के परिणाम-स्वरूप नोरा इस बात का अनुभव करती है कि उस ने इतने वर्ष एक अपरिचित व्यक्ति के सहवास में बिता दिए। दूसरा और विशेष महत्व का प्रसंग वह है जिस में तोवल्त के विषय में यह दिखाया गया है कि प्रेम-संबंधी अपराध की अपेक्षा वह समाज-संबंधी अपराध को बहुत महत्व देता है। विशेष कर 'गुड़िया के घर' शीर्षक नाटक में हम इब्सन की शैली तथा विचार-धारा दोनों से ही अच्छा परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

चरित्र-चित्रण में इब्सन ने जो यथार्थता उपस्थित की है उस की प्रशंसा में तो अनेक ग्रंथ रचे जा चुके हैं।

अनुवादक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र जी स्वयं हिंदी के सफल नाटचकार हैं।

अनुवाद के क्षेत्र में यह उन का प्रथम प्रयास है। कदाचित् इसी कारण अनुवाद की भाषा में वह स्वाभाविकता नहीं आ पाई है जिस की हम अपेक्षा कर सकते थे। फिर भी उन का प्रयास स्तुत्य है। हम आशा करते हैं कि अगले संस्करण में मिश्र जी भाषा में और परिमार्जन कर लेंगे। अनुवाद मूल भाषा से न हो कर अंग्रेज़ी अनुवाद के आधार पर हुआ है।

रा० ट०

तारीख़ इलाहाबाद (उर्दू)--जिल्द १--लेखक, मौलवी सैयद मक़बूल अहमद समदनी। पृष्ठ-संख्या लगभग ३५०। मूल्य ४)

मौलवी मक़बूल अहमद साहब अरबी-फ़ारसी के विद्वान् तथा बड़े साहित्य-प्रेमी हैं। आप ने कई छोटी-बड़ी पुस्तकें उर्दू में लिखी हैं, जिन का विषय अधिकांश जीवन-चरित तथा इतिहास है। आप ज़िला फ़र्रुख़ाबाद के निवासी हैं, पर इलाहाबाद से आप का अगाध प्रेम मालूम होता है, जिसे इस पुस्तक में कई स्थलों पर कहीं गद्य और कहीं पद्य में प्रकट किया गया है।

प्रयाग का कोई क्रमबद्ध पुराना इतिहास उपलब्ध नहीं है। अलबत्ता उस की बहुत-सी सामग्री यत्र-तत्र बिखरी हुई है। अतः योग्य लेखक ने अनेक पुस्तकों की छान-बीन कर के इस इतिहास की रचना की है। पुस्तक गद्य में है पर बीच-बीच में फ़ारसी-उर्दू के सैकड़ों पद्य उद्धृत हुए हैं। शैली कुछ पुराने ढंग की मौलवियाना और भाषा साधारण उर्दू से कुछ क्लिष्ट फ़ारसी-अरबी शब्दों से मिश्रित है।

पुस्तक का मुख्य विषय 'ख़ुसरो' तथा 'ख़ुसरोबाग़' ही है। कारण यह है कि इस में ख़ुसरो तथा उस के परिवार और संबंधियों का वर्णन बहुत ही विस्तार के साथ लिखा गया है, यहां तक कि उस की माता के व्याह तथा उस के जन्म के अवसर पर मीरासिनों ने जो गीत गाए थे वह भी लिख दिए गए हैं। ऐसे ही ख़ुसरो बाग़ की इमारतों के एक एक कोने की नाप-जोख और उस के रूप आदि का विशद वर्णन है। इन दोनों की सामग्री ने लगभग सारी पुस्तक घेर ली है, जिस के कारण इस को 'तारीख़ इलाहाबाद' के स्थान पर 'तारीख़ ख़ुसरो' कहना अधिक सार्थक होगा।

'प्रयाग' शब्द का अर्थ कुछ अशुद्ध और कुछ शुद्ध लिख कर 'इलाहाबाद' और 'इलाहाबास' के नामकरण पर विचार किया गया है। कई प्रमाण इस के भी दिए गए हैं कि 'क़िला बनने से पहले प्रयाग की आबादी मौजूद थी'। मालूम नहीं इस से किस को

१५

इन्कार है ? अलबत्ता यह प्रसंग जो उठाया गया है कि 'अकबर ने बिना किसी मंदिर को तोड़े क़िला बनवाया था' ऐतिहासिक दृष्टि से संदेहात्मक है।

सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने उस स्थान पर, जहां क़िला बना है, एक देव-मंदिर और वटवृक्ष देखा था (बील्स, 'बुधिष्ट रेकर्ड्स' जिल्द १, पृ० २३०-३१)। वह वृक्ष (अक्षयबट) और मंदिर क़िला बनने से पहले तक अकबर के समय में मौजूद था, जिस की चर्चा बदायूनी ने 'मुंतख़बुल् तवारीख़' (खंड २, पृष्ट १७६) पर की है। फिर वह मंदिर और वृक्ष यदि नष्ट नहीं किए गए तो क्या हो गए ? और बिना उन के हटाए क़िला क्यों-कर बन गया ? अलबत्ता उस की मूर्तियां एक तहख़ाने में बंद कर के रख दी गई थीं। पीछे किसी समय उस का द्वार खोल दिया गया और उस में वे मूर्तियां अब तक मौजूद हैं।

इस पुस्तक में मुसलमान बादशाहों के पक्षपात-रहित होने की भी कुछ विस्तार के साथ विवेचना की गई है, और उस का प्रमाण यह दिया गया है कि उन्हों ने अपनी हिंदू स्त्रियों को धर्म-परिवर्तन के लिए विवश नहीं किया था। इस के सिलसिले में योग्य लखक ने मुईजुद्दीन साम से लेकर फ़र्रुखसियर तक जितने बादशाहों ने हिंदू राजाओं की लड़कियों से व्याह किए थे, उन सब की एक सूची बना कर लिख दी है, जिस का संबंध प्रयाग के इतिहास से कुछ भी नहीं मालूम होता। ख़ुसरो की मां शाहबेगम का तो एक नहीं अनेक स्थलों पर जहां कहीं नाम आया है 'राजकुमारी', 'राजदुलारी', 'भगवानदास की बेटी', 'मानसिंह की बहन', लिख कर परिचय दिया गया है। यह भी दिखलाया गया है कि बादशाहों ने परस्पर मेल-मिलाप के लिए राजाओं से ये नाते-रिश्ते किए थे, जो सर्वथा निर्मूल हैं। सच्ची बात तो यह है शाहंशाहियत को सुदृढ़ करने तथा पराजित और अधीन राजाओं की मान-मर्यादा भंग करने के लिए ऐसा किया गया था। मालूम नहीं किन परि-स्थितियों से विवश होकर उन लोगों ने ऐसा बेमेल संबंध स्वीकार किया था। अब इन गड़े मुर्दों को उखाड़ कर रखने से इस पुस्तक के साथ कोई संगति मालूम नहीं होती, बल्कि राजपूत नरेशों की हीनता तथा क्षुद्रता का ही प्रदर्शन होता है, जिस को बहुत उभार कर लिखा गया है।

इन विवादास्पद बातों को छोड़ कर, निस्संदेह, ख़ुसरो और ख़ुसरोबाग़ के संबंध मे इस पुस्तक में मौलवी साहब ने जितनी सामग्री एकत्रित की है वह किसी एक पुस्तक में

पाई नहीं जाती, अतः इस के लिए उन का परिश्रम सराहनीय है।

पुस्तक में लेखक के चित्र के अतिरिक्त दो रंगीन और कई सादे चित्र तथा खुसरो बाग़ के मक़बरों के धरातल के कुछ मानचित्र भी हैं। काग़ज़ और छपाई (लीथो) साधारण है और कपड़े की जिल्द बँधी हुई है। मूल्य कुछ अधिक मालूम होता है।

शालिग्राम श्रीवास्तव

कामुक--अंग्रेज़ी कवि जॉन मिल्टन के 'कोमस' का पद्यानुवाद। अनुवादक, चतुर्वेदी श्री रामनारायण मिश्र, बी० ए०। प्रकाशक, नवयुग पुस्तक-भंडार, इलाहाबाद। मूल्य १।)

किसी भाषा की उत्कृष्ट कविता को दूसरी भाषा के पद्य में प्रस्तुत करने का प्रयास साधारणतः एक दुःसाहस है। महाकवि मिल्टन के प्रसिद्ध दृश्यकाव्य 'कोमस' के अनुवाद का काम उठा कर चतुर्वेदी श्री रामनारायण मिश्र जी ने अपने ऊपर एक कठिन भार ग्रहण किया। निस्संदेह हिंदी पाठक उन के ऋणी होंगे कि उन्हों ने मिल्टन की रचना का हिंदी में रसास्वादन कराया। कथा की रोचकता तो सभी स्वीकार करेंगे। अनुवाद में बहुत स्थलों पर ऐसा प्रवाह है जिस की अपेक्षा हम मौलिक रचन में ही कर सकते हैं। परंतु हमें अनुवादक के भाषा-संबंधी विचारों पर आपत्ति है। किसी एक शैली का आधार न लेकर उन्हों ने अपनी भाषा को ब्रजभाषा, अवधी तथा खड़ी बोली का अजीब मिश्रण बना लिया है। अपनी शैली के समर्थन में अनुवादक महोदय 'प्राक्कथन' में लिखते हैं कि--"भारतीय जिह्वा के लिए जैसी आदरणीय, पुनीत 'ब्रजभाषा' है उसी तरह रामचरितमानस की 'अवधी' भी है; एवं 'खड़ी बोली' इत्यादि सभी का सम्मिश्रण जब तक भाषा में न पाया जावेगा वह स्वाभाविक प्रौढ़ता न पा सकेगी।' स्पष्ट है कि यह तर्क सर्वमान्य नहीं हो सकता और अनुवादक की भाषा 'प्रौढ़ता' प्राप्त कर सकी है यह संदेहात्मक है। अनुवाद के विषय में सिद्धांत-रूप में एक आपत्ति और की जा सकती है। वह है मूल नामों का भारतीय करण। आलोचकों ने इसे अधिकांश स्वीकार कर लिया है कि ऐसा करने से मूल कथा के वातावरण का नष्ट होना संभावित है। फिर भी हम मिश्र जी को उन के प्रयास पर बधाई देते हैं।

रा० ट०

अग्निपूजक तथा अन्य कहानियां—लेखक, श्री केशवदेव शर्मा। प्रकाशक, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। मूल्य १)

इस संग्रह की छः कहानियों में से पाँच तो अंग्रेज़ी कवियों के प्रबंधकाव्यों को लेकर लिखी गई हैं, और एक कहानी महाकवि शेक्सपियर के 'ओथेलो' नामक दुःखांत नाटक के आधार पर है। उपर्युक्त प्रबंधकाव्यों में दो टेनिसन के हैं, अर्थात् 'इनोक आर्डन', और 'डोरा'। इन के भावानुवाद 'त्याग' और 'कुमारी' शीर्षक दे कर हुए हैं। 'वनदेवी' शीर्षक से सर वाल्टर स्काट कृत 'लेडी अव् दि लेक' का रूपांतर प्रस्तुत किया गया है। बाइरन कृत 'पैरीसीना' का अनुवाद 'अपराधी' शीर्षक है। जिस कहानी ने पुस्तक को शीर्षक दिया है वह है टामस मूर कृत 'फ़ायर वर्शिपर्स'। सभी कहानियां अंग्रेज़ी साहित्य में प्रख्यात और प्रिय मानी जाती हैं। श्री केशवदेव शर्मा ने इन कथानकों से हिंदी साहित्य प्रेमियों का परिचय करा कर एक ऐसी सेवा की है जिस का आदर होना चाहिए। बहुधा ऐसा होता है कि अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं की कथाओं का रूपांतर करते समय लेखक मूल नामों का भारतीयकरण कर लेते हैं। यह प्रथा आपत्तिजनक है; एक प्रकार से इस से मूल कथा का वातावरण नष्ट हो जाता है। शर्मा जी ने मूल नामों को बनाए रख कर एक सिद्धांत की रक्षा की है, और इस उदाहरण का अनुकरण होना चाहिए। विदेशी नामों को बनाए रखते हुए भी कथा हिंदी पाठकों के लिए किस प्रकार रोचक बनाई जा सकती है इस का नमूना इस पुस्तक में मिलेगा। पुस्तक की भाषा सर्वत्र सरल, सुरुचिपूर्ण, मुहावरेदार और सुंदर है और पढ़ते समय मूल का आनंद देती है। हम पुस्तक का हृदय से स्वागत करते हैं।

रा० ट०

क्रांति-चक्र—मूल-लेखक, कर्नल टी० एफ़० ओडनल। अनुवादक, श्री राधेश्याम शर्मा, एम्० ए०। प्रकाशक, भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। मूल्य १।)

कुछ समय हुए इलाहाबाद के प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'लीडर' में मेरठ कॉलिज के प्रिंसिपल कर्नल टी० एफ़० ओडनल की एक उपन्यास 'ह्वील्स अव् रिवोल्यूशन' धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक उसी का हिंदी रूपांतर है।

हमें इस उपन्यास में भारतीय समाज के उस अंश का विशेष रूप से चित्रण मिलता है जिस का संपर्क यूरोपीय अफ़सरों से बहुधा होता है। यह संपर्क अपने स्वतंत्र मनोवैज्ञा-

निक पहलू उपस्थित करता है, और उस का अध्ययन मनोरंजक है। हम इसे स्वीकार करते हैं कि पुस्तक भावुकता और सद्भावना से लिखी गई है, फिर भी इस की स्वाभाविकता हमें मान्य नहीं। कथा में अनेक स्थलों पर कृत्रिमता का आभास मिलेगा। अनुवाद सुंदर हुआ है। प्रश्न केवल यह उठता है कि यदि अनुवाद करने में इतनी योग्यता और समय लगाया जाय तो ऐसी पुस्तक भी अनुवाद के लिए क्यों न चुनी जाय जो अपने साहित्य में आदरणीय हो। कर्नल ओडनल की पुस्तक का स्थान इस दृष्टि से संदिग्ध है।

रा० ट०

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था--लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्०। मूल्य १)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति--लेखक, रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा। सचित्र। मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य--लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा। मूल्य १)

(४) अरब और भारत के संबंध--लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता--लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन)। मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत--लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। सचित्र। मूल्य ६॥)

(७) गोस्वामी तुलसीदास--लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल। सचित्र मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक--संग्रहकर्ता, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास। मूल्य ६)

(९) चर्म बनाने के सिद्धांत--लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी०। मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट--संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। मूल्य १)

(११) सौर-परिवार--लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्०। सचित्र। मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास--लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी--संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री--संपादक, ठाकुर राम सिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए०। मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य--लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०। सचित्र। मूल्य ३)

(१६) भोजराज--लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ। मूल्य कपड़े की जिल्द ३॥); सादी जिल्द ३)

(१७) हिंदी, उर्दू या हिंदुस्तानी--लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा। मूल्य कपड़े की जिल्द १॥); सादी जिल्द १)

(१८) नातन--लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक--मिर्ज़ा अबुलफ़ज़्ल। मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास--लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य कपड़े की जिल्द ४) ; सादी जिल्द ३।)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल--लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना। मूल्य कपड़े की जिल्द ५।) ; सादी जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र--लेखक, श्रीयुत व्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए०। मूल्य कपड़े की जिल्द ४।) ; सादी जिल्द ४)

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)- लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार। मूल्य प्रत्येक भाग का कपड़े की जिल्द ५।) ; सादी जिल्द ५)

(२३) भारतीय चित्रकला--लेखक, श्रीयुत एन्० सी० मेहता, आई० सी० एस्० । सचित्र। मूल्य सादी जिल्द ६) ; कपड़े की जिल्द ६।)

(२४) प्रेम-दीपिका--महात्मा अक्षर अनन्यकृत। संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम बी० ए०। मूल्य ।)

(२५) संत तुकाराम--लेखक, डाक्टर हरिरामचंद्र दिवेकर, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस), साहित्याचार्य। मूल्य कपड़े की जिल्द २) ; सादी जिल्द १।)

(२६) विद्यापति ठाकुर--लेखक, डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०। मूल्य १।)

(२७) राजस्व --लेखक, श्री भगवानदास केला। मूल्य १)

(२८) मिना--लेसिंग के जरमन नाटक का अनुवाद। अनुवादक, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, एम्० ए०, डी० फ़िल्०। मूल्य १)

(२९) प्रयाग-प्रदीप--लेखक, श्री शालिग्राम श्रीवास्तव। मूल्य कपड़े की जिल्द ४); सादी जिल्द ३।)

(३०) भारतेंदु हरिश्चंद्र--लेखक, श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य ५)

(३१) हिंदी कवि और काव्य--(भाग १) संपादक, श्रीयुत गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य सादी जिल्द ४।) ; कपड़े की जिल्द ५)

(३२) हिंदी भाषा और लिपि--लेखक, डाक्टर धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस)। मूल्य ।)

(३३) रंजीतसिंह—लेखक, प्रोफ़ेसर सीताराम कोहली, एम्० ए० । अनुवादक, श्री रामचंद्र टंडन, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० । मूल्य १)

हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सौर-परिवार

[लेखक—डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०]

आधुनिक ज्योतिष पर अनोखी पुस्तक

७७६ पृष्ठ, ५८७ चित्र
(जिन में ११ रंगीन हैं)
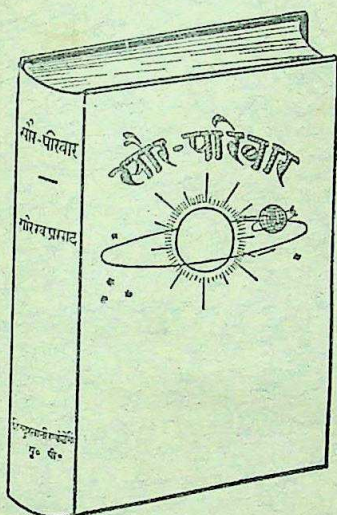
इस पुस्तक को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से रेडिचे पदक तथा २००) का छन्नूलाल पारितोषिक मिला है।

"इस ग्रंथ को अपने सामने देख कर हमें जितनी प्रसन्नता हुई उसे हमीं जानते हैं। * * जटिलता आने ही नहीं दी, पर इस के साथ साथ महत्त्वपूर्ण अंगों को छोड़ा भी नहीं। * * पुस्तक बहुत ही सरल है। विषय को रोचक बनाने में डाक्टर गोरखप्रसाद जी कितने सिद्धहस्त हैं, इस को वे लोग तो खूब ही जानते हैं जिन से आप का परिचय है।

* * पुस्तक इतनी अच्छी है कि आरंभ कर देने पर बिना समाप्त किए हुए छोड़ना कठिन है।"—सुधा।

"The explanations are lucid, but never, so far as I have seen, lacking in precision. * * I congratulate you on this excellent work."

श्री० टी० पी० भास्करन, डाइरेक्टर, निज़ामिया वेधशाला

मूल्य १२)

प्रकाशक—हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश्य

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश्य हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक दे कर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता दे कर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश्य की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

मुद्रक—पी० टोपा, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक—डाक्टर ताराचंद, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद